

अपभ्रंश भारती

जुलाई, 1992

शोध-पत्रिका

2



अपभ्रंश साहित्य अकादमी

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी

राजस्थान

अपभ्रंश भारती

अर्द्धवार्षिक
शोध-पत्रिका
जुलाई, 1992

सम्पादक मण्डल
श्री नवीनकुमार बज
डॉ. कैलाशचन्द्र जैन
श्री ताराचन्द्र जैन
श्री ज्ञानचन्द्र बिल्टीवाला

प्रबन्ध सम्पादक
श्री कपूरचन्द्र पाटनी
मंत्री, प्रबन्धकारिणी कमेटी
दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी

सम्पादक
डॉ. कमलचन्द्र सोगाणी
श्री ज्ञानचन्द्र खिन्दूका
डॉ. गोपीचन्द्र पाटनी

सहायक सम्पादक
सुश्री प्रीति जैन

प्रकाशक

अपभ्रंश साहित्य अकादमी

जैनविद्या संस्थान

प्रबन्धकारिणी कमेटी

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र, श्रीमहावीरजी (राजस्थान)

वार्षिक मूल्य :

40.00 रु. सामान्यतः

75.00 रु. पुस्तकालय हेतु

फोटोटाइप सैटिंग :

कॉम्प्रिन्ट, जयपुर

मुद्रक :

जयपुर प्रिन्टर्स प्रा. लि.

एम. आई. रोड, जयपुर-1

विषय-सूची

क्र.सं.	विषय	लेखक	पृ. सं.
	अध्यक्षीय	नरेश कुमार सेठी	(i)
	प्रकाशकीय	कपूरचन्द पाटनी	(ii)
	सम्पादकीय	कमलचन्द सौगाणी	(iii)
		ज्ञानचन्द खिन्दूका	
		गोपीचन्द पाटनी	
1.	अपभ्रंश की विशिष्ट विधा दोहा में लोक संपृक्ति	डॉ. शम्भूनाथ पाण्डेय	i
2.	फगुण-मासु पवोलिय तावेहिँ	महाकवि स्वयंभू	10
3.	अपभ्रंश साहित्य में प्रकृति-वर्णन	डॉ. इन्द्रबहादुर सिंह	11
4.	अपभ्रंश के कतिपय काव्यरूप और उनका हिन्दी पर प्रभाव	डॉ. महेन्द्रसागर प्रचण्डिया	25
5.	मुक्कु गिंभणामें सरो	कवि नयनन्दि	30
6.	अपभ्रंश के कुछ प्राङ्मध्यकालीन खण्डकाव्य	डॉ. सियाराम तिवारी	31
7.	जं पाउस-णरिन्दु गलगज्जिउ	महाकवि स्वयंभू	36
8.	अपभ्रंश वाङ्मय में व्यवहृत पारिभाषिक शब्दावली और उनका अर्थ-अभिप्राय	डॉ. आदित्य प्रचण्डिया 'दीति'	37
9.	अपभ्रंश के अवसान के दो कवि	डॉ. कान्तिकुमार जैन	43
10.	अपभ्रंश काव्य का छन्दोविवेचन	डॉ. विनीता जोशी	49
11.	पउमचरिउ-स्वयंभू का बिम्बविधान	डॉ. श्रीरंजनसूरिदेव	65
12.	जेँ सरयहों आगमणें	महाकवि स्वयंभू	70
13.	स्वयंभूछन्द : एक विश्लेषण	डॉ. गदाधरसिंह	71
14.	संपत्तउ वासारत्तु तांवं	महाकवि पुष्पदन्त	82
15.	णायकुमारचरिउ का छंद	डॉ. रामबरन पाठक	83
16.	नील पलास रत्त हुय किसुय	महाकवि वीर	96
17.	योगीन्दु मुनि	डॉ. वासुदेवसिंह	97
18.	वरिसइ घणोहु अच्छिन्नधार	महाकवि वीर	106
19.	सन्देश-रासक-काव्यविधा और विश्लेषण	डॉ. त्रिलोकीनाथ 'प्रेमी'	107
20.	कीर्तिलता में युयुत्सा का वर्णन	डॉ. वी. डी. हेगड़े	117
21.	अपभ्रंश कथा सौरभ	डॉ. कमलचन्द सौगाणी	123
22.	प्रौढ़ अपभ्रंश रचना सौरभ	डॉ. कमलचन्द सौगाणी	133

अध्यक्षीय

अपभ्रंश साहित्य और भाषा के अध्येताओं के समक्ष अपभ्रंश-भारती का द्वितीय अंक सहर्ष प्रस्तुत है ।

राष्ट्रभाषा हिन्दी व प्रान्तीय भाषाओं के लिए आवश्यक है उनकी 'मूल प्रकृति' को जानना । हिन्दी में अपभ्रंश की प्राणधारा अविच्छिन्न रूप में प्रवाहित है । हिन्दी मुख्यतः अपभ्रंश की जीवन्त परम्परा को लेकर आगे बढ़ी है । यथार्थतः अपभ्रंश लगभग सभी आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं की जननी है ।

लोकजीवन की ऐसी कोई विधा नहीं जिस पर अपभ्रंश भाषा में न लिखा गया हो । अपभ्रंश साहित्य के सांस्कृतिक महत्व को समझते हुए ही दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी द्वारा अपभ्रंश साहित्य अकादमी की स्थापना की गई । भाषा के अध्ययन-अध्यापन को दिशा प्रदान करने के लिए अपभ्रंश रचना सौरभ, अपभ्रंश काव्य सौरभ, पाहुड दोहा चयनिका आदि पुस्तकें प्रकाशित की गईं । अपभ्रंश सर्टिफिकेट पाठ्यक्रम व अपभ्रंश डिप्लोमा पाठ्यक्रम विधिवत निःशुल्क चलाये जा रहे हैं । पत्राचार अपभ्रंश सर्टिफिकेट पाठ्यक्रम अखिल भारतीय स्तर पर प्रारंभ कर दिया गया है । विद्वानों द्वारा किये जा रहे अपभ्रंश साहित्य के मंथन को 'अपभ्रंश भारती' में प्रकाशन की व्यवस्था करना हम अपना कर्तव्य समझते हैं ।

प्रस्तुत अंक में विद्वानों द्वारा साहित्यिक एवं सैद्धान्तिक दृष्टियों से विचार प्रस्तुत किये गये हैं । जिन विद्वानों ने अपनी रचनायें भेजकर इस अंक के प्रकाशन में योगदान दिया हम उनके आभारी हैं । पत्रिका के सम्पादक, सहयोगी सम्पादक एवं सम्पादक मण्डल धन्यवादार्ह हैं ।

नरेशकुमार सेठी

अध्यक्ष

प्रबन्धकारिणी कमेटी

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी

प्रकाशकीय

अपभ्रंश भारती का द्वितीय अंक पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए हर्ष का अनुभव हो रहा है । यह निर्विवाद है कि अपभ्रंश भारत की सशक्त भाषा रही है । विभिन्न कवियों ने जनता में लौकिक एवं पारलौकिक मूल्यों को स्थापित करने के लिए अनेक/भौति-भौति की विधाओं में काव्यों की रचना की है । करीब 1000 वर्ष तक अपभ्रंश साहित्य ने भारतीय समाज का मार्गदर्शन किया है ।

आध्यात्मिक एवं नैतिक मूल्य भारतीय समाज के आधार रहे हैं । जब तक समाज में मूल्यों की चेतना सघन रहती है तब तक समाज विकास की ओर अग्रसर होता रहता है । यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि मूल्यों को प्राणवन्त बनाए रखने में अपभ्रंश साहित्य का बहुत बड़ा योगदान है । इस साहित्य ने मानव समाज में नैतिकता-मानवता-करुणा, अहिंसा-अपरिग्रह आदि के मूल्यों को स्थापित करने में सजगता प्रदर्शित की है ।

यह कहना युक्तियुक्त है कि हिन्दी साहित्य के इतिहास की आदिकालीन व मध्ययुगीन प्रवृत्तियों का प्रधान प्रेरणा-स्रोत अपभ्रंश साहित्य रहा है । अपभ्रंश की अधिकांश रचनाएँ साहित्यिक सरसता से भरपूर हैं । काव्यरूपों और काव्यविषयों के अध्ययन के लिए राष्ट्रभाषा हिन्दी व आर्यभाषाओं के विकास-क्रम के ज्ञान के लिए अपभ्रंश साहित्य की उपयोगिता असदिग्ध है ।

'अपभ्रंश भारती' पत्रिका का प्रकाशन अपभ्रंश भाषा और साहित्य के पुनरुत्थान के लिए उठाया गया एक कदम है । इस अंक में अपभ्रंश साहित्य के विविध पक्षों पर विद्वान लेखकों ने अपने विचार प्रस्तुत किए हैं । उन सभी लेखकों के प्रति हम आभारी हैं ।

इस अंक के प्रकाशन एवं मुद्रण में सहयोगी अकादमी के कार्यकर्ता, सम्पादकगण व जयपुर प्रिन्टर्स प्रा. लि. धन्यवादाहर् हैं ।

कपूरचन्द पाटनी

मंत्री

प्रबन्धकारिणी कमेटी

दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी

सम्पादकीय

भारत विभिन्न भाषाओं का देश है । यहाँ अति प्राचीनकाल से ही सांस्कृतिक अभिव्यक्ति के लिए लोकभाषा में साहित्य लिखा जाता रहा है । जीवन के विविध मूल्यों के प्रति जनता को जागृत करना और लोकजीवन के विविध पक्षों को लोकभाषा में अभिव्यक्त करना — ये दोनों ही बातें महत्त्वपूर्ण समझी जाती रही हैं । लोकभाषा में ही जन-चेतना की हृदयस्पर्शी अभिव्यक्ति होती है । अपनी व्यक्तिगत अनुभूति के माध्यम से साहित्यकार जन-चेतना में नये तत्त्वों का प्रवेश कराने के लिए लोकभाषा को चुनकर उसमें सांस्कृतिक प्राणों का संचार करता है ।

'वेद' लोकभाषा में रचित ग्रन्थ हैं । महावीर और बुद्ध के युग में तथा उसके पश्चात् भी लोकभाषा में साहित्य-निर्माण होता रहा । प्राकृत महावीर, बुद्ध और उनके आस-पास के लाखों लोगों की मातृभाषा रही है । कुछ शताब्दियों तक प्राकृत में विभिन्न प्रकार का साहित्य लिखा जाता रहा ।

यह एक वास्तविकता है कि लोकभाषा बदलती रहती है और जो बदलती रहती है वही लोकभाषा होती है । धीरे-धीरे 'अपभ्रंश भाषा' के रूप में नई लोकभाषा पनपी ।

अपभ्रंश अपने समय की विशिष्ट लोकभाषा बनी । वह लोकजीवन से सीधे उद्भूत हुई थी। उसमें लोकजीवन की धड़कनें थीं । नवीनता का ऐसा चास्त्व, सहजता का ऐसा सौन्दर्य जो पिछली सभी प्राचीन-मध्य भारतीय आर्य भाषाओं-छान्दस, संस्कृत, पालि, प्राकृत को चुनौती दे रहा था ।

ईसा की छठी शताब्दी में अपभ्रंश भाषा साहित्यिक अभिव्यक्ति के लिए एक सशक्त माध्यम बन गई । अपभ्रंश में साहित्य-रचना 7वीं से 17वीं शताब्दी तक होती रही । इस तरह से एक हजार वर्ष तक इस भाषा में साहित्य-निर्माण होता रहा । स्वयंभू, पुष्पदन्त, धनपाल, वीर, नयनन्दि, कनकामर, जोइन्दु, रामसिंह, हेमचन्द्र, रङ्गू आदि अपभ्रंश भाषा के अमर साहित्यकार हैं । इसका प्रकाशित-अप्रकाशित विपुल साहित्य इसके विकास की गौरवमयी गाथा कहने में समर्थ है । डॉ. चाटुर्ज्या के अनुसार — शौरसेनी अपभ्रंश राष्ट्रभाषा बन गई थी । पश्चिम से पूर्व तक उसी का प्रयोग होता था ।

साहित्यरूपों की विविधता और वर्णित विषय-वस्तु की दृष्टि से अपभ्रंश साहित्य बड़ा ही समृद्ध और मनोहारी है । अपभ्रंश के कवि साहित्य-चेतना के प्रति इतने सचेत थे, जनता की चित्तवृत्तियों को पकड़ने में इतने जागरूक थे कि उन्होंने प्रायः सभी विधाओं में अपनी रचनाएँ दीं । पुराण, महापुराण, चरित, कथा, कहानी, वार्ता, आख्यायिका, रासक, लीलाकाव्य, बेलि, लताकाव्य, फागु, चर्चरी, मंगल, विवाहलो, कक्क, मातृका, बावनी, विप्रमतीसी, पैवाड़ा, दोहाकोश, पद्मङ्गियाबंध या कड़वकबन्ध, गेयपदबन्ध, गद्यरूप आदि विविध विधाओं में रचना की ।

गद्य की अपेक्षा पद्य की संप्रेषणीयता अधिक मुखर होती है । पद्य का हृदयतत्व के साथ तादात्म्य भी शीघ्र हो जाता है । छन्द भावों को आच्छादित कर उनके सौन्दर्यवर्द्धन में सहायक होते हैं । उनका लयात्मक वैशिष्ट्य सम्प्रेषणीयता व काव्यानन्द दोनों की अभिवृद्धि

करता है । छन्द काव्य का आवश्यक उपादान है । स्वयंभू ने अपभ्रंश छन्दों का सक्षिप्त किन्तु प्रामाणिक विवेचन प्रस्तुत किया है । 'स्वयंभूच्छन्द' ऐसा ग्रन्थ है जो अपनी सक्षिप्तता के बावजूद विषय के साथ पूर्ण न्याय करता है ।

डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपभ्रंश-साहित्य में तीन प्रकार के बन्धों की चर्चा की है। उनके अनुसार — मुख्य बन्ध तीन हैं — (i) दोहा बन्ध, (ii) पदझिया बन्ध और (iii) गेयपद बन्ध। दोहा या दूहा अपभ्रंश का अपना छन्द है । यह मुक्तक और प्रबन्धकाव्य दोनों में समादृत है। सिद्धकवियों का 'बौद्धगान ओ दोहा', सरहपा कृत 'दोहाकोश', कण्हपा का 'दोहाकोश', तिलोपा का 'दोहाकोश' आदि उल्लेखनीय हैं । जैन कवियों ने तो इसे इसके पूरे वैभव के साथ उभाड़ा । देवसेन का 'सावयधम्म दोहा', जोइन्दु का परमप्यासु (परमात्मा प्रकाश) व योगसार, रामसिंह का 'पाहुडदोहा', मुनिमहचन्द का 'दोहापाहुड', सन्दर्भगर्भित 'हेमचन्द्र के दोहे' तथा मुंज (रासो) के दोहे अपभ्रंश भाषा और साहित्य के अक्षय स्वर्णकोष हैं ।”

विद्वान् लेखकों ने इस अंक में इन्हीं साहित्यरूपों की विविधता एवं अपभ्रंश के कवियों द्वारा वर्णित विषय-वस्तु का विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार किया है । यथा —

“पउमचरिउ में पंचेन्द्रिय (रूप, रस, गंध, वर्ण और स्पर्श) बिम्बों के एक से एक उत्तम निदर्शन भरे पड़े हैं जिनका विवेचन स्वतंत्र शोध का विषय है । कहना न होगा कि 'पउमचरिउ' में महाकवि स्वयंभू द्वारा विनिवेशित सभी बिम्ब उनकी चित्तानुकूलता से आश्लिष्ट हैं इसलिए चित्रात्मक होने के साथ ही अतिशय भव्य और रमणीय अतएव रसनीय हैं ।”

“अपभ्रंश काव्य में प्रकृति-चित्रण आलम्बन और उद्दीपन दोनों ही रूपों में हुआ है । महाकाव्यों में स्वतंत्र प्रकृति-वर्णन मिलता है, खण्डकाव्य में यत्र-तत्र । षड्भृतु का वर्णन काव्य में संयोगसुख या विरहदुःख को तीव्रतर दिखाने के लिए किया गया है ।”

“जसहरचरिउ में शुको का क्षेत्रों में चुगना, गौओं का इक्षुखण्ड खाते हुए विचरण करना, वृषभ का गर्जन और जीभ से गौ का चाटना, भैंसों का मन्थरगति से चलना, प्रपापालिका बालिकाओं का पानी पिलाते-पिलाते अपना सुन्दर मुखचन्द्र दिखाकर पथिकों को लुभा लेना आदि सबका बड़ा स्वाभाविक वर्णन हुआ है । सूर्योदय का वर्णन भी कवि ने बड़ा सजीव किया है ।”

जिन विद्वान् लेखकों ने अपने महत्त्वपूर्ण लेखों से इस अंक के कलेवर-निर्माण में सहयोग प्रदान किया है उन सभी के हम आभारी हैं और भविष्य में भी इस प्रकार के सहयोग की अपेक्षा करते हैं ।

संस्थान समिति, सम्पादक-मण्डल एवं सहयोगी कार्यकर्त्ताओं के प्रति भी आभारी हैं । मुद्रण हेतु जयपुर प्रिन्टर्स प्रा. लि., जयपुर भी धन्यवादार्ह हैं ।

कमलचन्द सोगाणी
ज्ञानचन्द्र खिन्दूका
गोपीचन्द्र पाटनी

अपभ्रंश की विशिष्ट विधा दोहा में लोकसंपृक्ति

• डॉ. शम्भूनाथ पाण्डेय

‘अपभ्रंश’ अपने समय की विशिष्ट लोकभाषा थी। वह लोकजीवन से सीधे उद्भूत हुई थी। उसमें लोकजीवन की धड़कनें थीं। उसकी भावनाएं थीं। उसके उमंग-उत्साह थे। साहस और शौर्य थे। वीरता और बहादुरी थी। प्रेम-शृंगार था। नीति और धर्म था। यह सब-कुछ, कुछ ऐसा था जैसे जीवन का सोता फूट निकला हो, जिसमें सहज वेग हो। स्वतःस्फूर्त प्रवाह हो। उन्मुक्त संचरण हो। नवीनता का ऐसा चास्त्व, सहजता का ऐसा सौन्दर्य जो पिछली सभी प्राचीन-मध्य भारतीय आर्यभाषाओं—छान्दस-संस्कृत, पालि, प्राकृत को चुनौती दे रहा था। अपभ्रंश की ललकार की तेवर में जो बल था वह और कुछ नहीं, उसकी लोकसंपृक्ति थी। लोकजीवन से प्रगाढ़ लगाव था। गहरा प्रेम-भाव था।

‘अपभ्रंश’ शब्द के अर्थ के सम्बन्ध में विद्वानों में कोई मतभेद नहीं रहा, क्योंकि वह लोकसंलग्न था। अपभ्रंश अर्थात् भ्रष्ट, च्युत, स्खलित, विकृत अथवा अशुद्ध। भाषा के सामान्य मानदंड से जो शब्द-रूप च्युत हों, वे अपभ्रंश हैं¹। अमरकोश, विश्वप्रकाश, मेदिनी, अनेकार्थसंग्रह, विश्वलोचन, शब्द-रत्न समन्वय, शब्दकल्पद्रुम तथा संस्कृत-शब्दार्थ-कौस्तुभ आदि सभी संस्कृत कोशग्रंथों में अपभ्रंश शब्द का अर्थ ‘बिगड़ा हुआ शब्द’ अथवा ‘बिगड़े हुए शब्दोंवाली भाषा’ ही पाया जाता है— अपभ्रंशोऽपशब्दः स्यात्। ‘शब्दः संस्कारहीनो यो गौरिति प्रयुयुक्षिते। तमपभ्रंशमिच्छन्ति विशिष्टार्थ निवेशनम्’ शब्द-संस्कार से हीन शब्दों का नाम अपभ्रंश है² पर इसके साथ पं. चन्द्रधर शर्मा गुलेरी जी ने जिस अर्थ की ओर संकेत किया उस पर किसी ने विशेष ध्यान नहीं दिया जो अधिक ध्यातव्य है। उन्होंने अपभ्रंश का अर्थ ‘नीचे को बिखरना’ बताया। उन्होंने इसको लोकजीवन-जनजीवन

के गहरे सम्बन्ध से अनायास जोड़ते हुए लिखा कि — देशी और कुछ नहीं, बौध से बचा हुआ पानी है या वह जो नदी-मार्ग पर चला आया, बौधा न गया । उसे भी कभी-कभी छानकर नहर में ले लिया जाता था । बौध का जल भी रिसता-रिसता इधर मिलता आ रहा था । पानी बढ़ने से नदी की गति वेग से निम्नाभिमुखी हुई, उसका 'अपभ्रंश' (नीचे को बिखरना) होने लगा।³ इस कथन पर यदि थोड़ी गहराई के साथ विचार किया जाय तो इसके बीज-बिन्दु लोकवादी मुनि पतञ्जलि (150 ई. पूर्व) के उस कथन में भी मिलते हैं, जिसके उदाहरण के सभी शब्द लोकजीवन, ग्रामीण संस्कृति के हैं । उन्होंने यह भी संकेत दिया कि शिष्ट शब्द यदि एक है तो प्यार के प्रवाह में पानी की तरह सरकनेवाले अपभ्रंश शब्द अनेक । इसलिए कि उनमें लोकजीवन की जीवन्तता है । उन्होंने लिखा — 'भूयांसोऽपशब्दाः, अल्पीयांसः शब्दा इति । एकैकस्य हि शब्दास्य बहुवोऽपभ्रंशाः तद्यथा गौरित्यस्य शब्दस्य गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका, इत्येवम, दयोऽपभ्रंशाः⁴ यानि 'गौ' जैसे शिष्ट शब्द के लिए गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका आदि अनेक अपभ्रंश शब्द हैं ।

गौ कृषि जीवन की आधारशिला है । वह कृषकों का आर्थिक आधार ही नहीं, सभ्यता और संस्कृति भी है । 'गो धन' के रूप में यदि किसानों का कोष है तो 'गोदान' गोमाता के रूप में उसकी संस्कृति । और यह किसानी-चरागाही संस्कृति अपभ्रंश की वह विशेषता है जिसका भावात्मक विकास हम मध्यकालीन महाकवि सूर से लेकर आधुनिक काल के 'गोदान' तक देख सकते हैं । इस गौ संस्कृति ने अपभ्रंश काल में ही नहीं हिन्दी साहित्य के मध्यकाल की सामंती-जकड़बन्दी को तोड़कर उन्मुक्तता, स्वतंत्रता एवं खुली भूमि में सौस लेना सिखाया था । कृष्ण नंद ग्राम की सामंती सीमा से बाहर निकलकर ग्वाल-बालों के साथ यह कहकर बाहर निकल जाते हैं कि — 'आजु मैं गई चरावन जैहो' और लोकसंपृक्त हो जाते हैं ।

'अपभ्रंश' ऐसे ही लोकजीवन किसानी-चरागाही संस्कृति की भाषा थी । दण्डी ने इस मर्म-तथ्य को ठीक ही समझा था । उन्होंने अपने 'काव्यादर्श' में लिखा कि — काव्यों में आभीर आदि की भाषा को अपभ्रंश नाम से जाना जाता है — 'आभीरादिगिरः काव्येष्वपभ्रंश इति स्मृता'⁵ इसके भी बहुत पहले नाट्यशास्त्रकार भरत मुनि ने 'आभीरोक्ति'⁶ कह कर इसे संबोधित किया था । उसमें 'आदि' शब्द विशेष महत्वपूर्ण है । इसे गुर्जर या ऐसी ही अन्य जातियों से ही न जोड़ कर लोक या जनसामान्य से जोड़ना चाहिए । डॉ. रामसिंह तोमर ने ठीक ही लिखा है— "कोई एक जाति किसी भाषा, विशेषतया अपभ्रंश जैसी व्यापक भाषा का निर्माण नहीं कर सकती । आभीर और गुर्जर शब्दों का प्रयोग लाक्षणिक अर्थ में किया गया प्रतीत होता है, आभीर और गुर्जर से सामान्य जन-समुदाय का अर्थ लिया जाना उचित लगता है जो लौकिक कविता को अधिक प्रेम से पढ़ते होंगे" ।⁷ आचार्यों और कवियों के कथनों से भी वह देशभाषा, लोकभाषा, जनभाषा ही सिद्ध होती है । आचार्य रुद्रट ने अपने 'काव्यालंकार' 2-12 में 'षष्ठोऽत्र भूरिभेदो देशविशेषादपभ्रंशः' कहकर उसे देशभाषा बताया । अपभ्रंश के महाकवि स्वयंभू ने अपनी 'रामायण-पञ्चमचरित 1' में 'देसी भाषा-उभय तडुज्जल' तथा दूसरे महाकवि 'पुष्पदंत ने अपने महापुराण, 1-8 में 'णउ हउं होमी वियक्खणु ण मुणमि लक्खणु छंडु देसी ण वियाणमि' अपभ्रंश को लोकसंपृक्ति की भाषा होने की मुहर लगा दी है । इस प्रकार डॉ. कमलचन्द सोगाणी के इस कथन से कोई भी असहमत नहीं हो सकता कि — अपभ्रंश भारतीय आर्य-परिवार की एक सुसमृद्ध लोकभाषा रही है । इसका प्रकाशित-अप्रकाशित विपुल साहित्य इसके विकास की गौरवमयी गाथा कहने में समर्थ है । स्वयंभू, पुष्पदंत, धनपाल, वीर, नयनन्दि, कनकामर, जोइन्दु, रामसिंह, हेमचंद्र, रङ्घु, आदि अपभ्रंश भाषा के अमर साहित्यकार हैं । कोई भी देश व संस्कृति इनके आधार से

अपना मस्तक ऊँचा रख सकती है' ।⁸ कहना नहीं है कि अपभ्रंश अपनी पत्थरफोड़ शक्ति, आत्मबल, जनबल का सहारा लेती हुई, परम्परा से रस खींचती हुई, अपने को प्रचारित-प्रसारित करती हुई, आगे बढ़ती चली गई और भारतवर्ष की एक सशक्ततम साहित्यिक भाषा बन गयी । लोक, धर्म, शासन सभी ने इसे गले से लगा लिया ।

विविध विधाएँ

कवि या रचनाकार की रमणीय शाब्दिक आत्माभिव्यक्ति काव्य-विधाओं का मूल है । यह अभिव्यक्ति ज्ञान, भावना और संकल्प, इन तीन मूलभूत मनोवृत्तियों से जुड़ी होती है । रचनाकार साधारण प्राणियों की अपेक्षा अधिक सवेदनशील होता है । उसके पास अनुभूति, कल्पना, विषयग्रहण और उसके प्रतिपादन की विशिष्ट क्षमता होती है । नानारूपात्मक जगत की परिस्थितियों, घटनाएँ, उत्थान-पतन, प्रतिक्रियायें भी विविधात्मक होती हैं । ये रचनाकार को प्रभावित करती हैं और रचनाकार भी अपनी क्षमता, शक्ति, प्रतिभा तथा विधायिका शक्ति से विविध विधाओं में विषय का सुन्दर चित्रण कर समाज को प्रभावित करता है । समाज के मनोरंजन, ज्ञानवर्द्धन और संस्कार के लिए ये काव्य-विधाएँ अचूक साधन सिद्ध होती हैं ।

इस प्रकार विषयवस्तुओं, भावों और विचारों ने काव्य में जो आकार, रूप, योजनापद्धति धारण की वह विविध साहित्यिक विधाओं के रूप में सामने आया । भाषा की भौतिक ऐतिहासिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन के कारण साहित्य-विधाओं में भी परिवर्तन आता है । उसमें संस्कार-परिष्कार होते हैं । डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि — जब-जब कोई जाति नवीन जातियों के सम्पर्क में आती है तब-तब उसमें नयी प्रवृत्तियाँ आती हैं, नयी आचार-परम्परा का प्रचलन होता है, नये काव्यरूपों की उद्भावना होती है और नये-नये छंदों में जनचित्त मुखर हो उठता है' ।⁹ इस प्रकार साहित्य-विधा का रूपग्रहण, सामाजिक सम्बन्ध, भाषा, विषय, समय-सापेक्षता जाति और साहित्यकार की प्रतिभा पर आधारित होता है । एक विधा यदि किसी भाषा के लिए सार्थक सिद्ध हो सकती है तो दूसरी भाषा के लिए निरर्थक । 'दोहा' काव्य-विधा या छंद अपभ्रंश, अवहट्ट, हिन्दी के लिए उपयुक्त है तो बंगला भाषा के लिए अनुपयुक्त । यही नहीं जब साहित्यकार किसी सत्य को कई विधाओं में उद्घाटित करता है तो उसका सौन्दर्यकिर्षण भिन्न-भिन्न हो जाता है । सत्य का कोई पहलू चित्र, कविता, उपन्यास, कहानी अथवा नाटक में खींचता है तो उसका अलग आकर्षण और भिन्न प्रभाव पड़ता है । वस्तुतः ये भिन्न-भिन्न विधाएँ जीवन को विभिन्न पहलुओं से देखने और समझने के माध्यम हैं । डॉ. नामवर सिंह ने लिखा है कि — साहित्य के रूप केवल रूप नहीं हैं बल्कि जीवन को समझने के भिन्न-भिन्न माध्यम हैं । एक माध्यम जब चुकता दिखाई पड़ता है तो दूसरे माध्यम का निर्माण किया जाता है । अपनी महान जययात्रा में सत्य-सौन्दर्य-दृष्टा मनुष्य ने इसी तरह समय-समय पर नये कलारूपों की सृष्टि की ताकि वह नित्य विकासशील वास्तविकता को अधिक-से-अधिक समझे और समेट सके' ।¹⁰

अपभ्रंश के कवि साहित्य-चेतना के प्रति इतने सचेत थे, जनता की चित्तवृत्तियों को पकड़ने में इतने जागरूक थे कि उन्होंने प्रायः सभी विधाओं में अपनी रचनाएँ दीं । पुराण, महापुराण, चरित, कथा, कहाणी, वार्ता, आख्यायिका, रासक, लीलाकाव्य, वेलि, लताकाव्य, फागु, चर्चरी, मंगल, विवाहलो, कङ्क, मातृका, बावनी, विप्रमतीसी, पैवाड़ा, दोहा-कोश, पद्धडियाबंध या कडकबद्धबंध, गेयपदबंध, गद्यरूप आदि विविध विधाओं में रचनायें कीं । सुविधा की दृष्टि से इन्हें चार कोटियों में बाँटा गया । अपभ्रंश साहित्य को मोटे तौर पर सर्वप्रथम दो भागों में विभक्त किया जा सकता है — (1) जैन अपभ्रंश साहित्य, (2) जैनतर अपभ्रंश साहित्य । साहित्यिक विधाओं की दृष्टि से समस्त अपभ्रंश साहित्य को हम चार कोटियों में बाँट सकते हैं — (1) जैन प्रबंध काव्य,

जिसके अन्तर्गत पुनः दो कोटियाँ मानी जा सकती हैं — (1) पुराण, चरित-साहित्य तथा कथा-साहित्य, (2) जैन आध्यात्मिक काव्य, जिन्हें कुछ विद्वान जैन रहस्यवादी काव्य कहना ठीक समझते हैं, (3) बौद्ध दोहा एवं चर्यापद, (4) अपभ्रंश के शौर्य एवं प्रणय संबंधी मुक्तक काव्य' ।¹¹ इन सभी विधाओं में अपनी कुछ खास विशेषताओं के कारण दोहा-विधा अपना विशिष्ट स्थान रखती है ।

दोहा : बंध, छंद और भाषा के रूप में

डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपभ्रंश साहित्य में तीन प्रकार के बंधों की चर्चा की है और यह भी संकेत दिया है कि हिन्दी को छोड़कर शायद ही किसी अन्य प्रांतीय भाषा में इन सब रूपों की उपलब्धि होती हो । उनके अनुसार 'मुख्य बंध तीन हैं — (1) दोहा बंध, (2) पद्धड़िया बंध, (3) गेयपद बंध' ।¹² दोहा बंध या विधा के सम्बन्ध में उनके विचार बहुत ही संतुलित हैं । उनका कहना है — 'दोहा या दूहा अपभ्रंश का अपना छंद है । उसी प्रकार जिस प्रकार गाथा प्राकृत का अपना छंद है । बाद में तो 'गाथा बंध' से प्राकृत रचना और 'दोहा बंध' से अपभ्रंश रचना का बोध होने लगा था । 'प्रबंध-चिन्तामणि' में तो 'दूहा-विधा' में विवाद करनेवाले दो चारणों की कथा आई है जो यह सूचित करती है कि अपभ्रंश-काव्य को 'दूहा विधा' भी कहने लगे थे । दोहा अपभ्रंश के पूर्ववर्ती साहित्य में एकदम अपरिचित है । किन्तु परवर्ती हिन्दी साहित्य में यह छंद अपनी पूरी महिमा के साथ वर्तमान है । चार प्रकार से उनका प्रयोग अपभ्रंश-साहित्य में हुआ है — (1) निर्गुण-प्रधान और धार्मिक उपदेशमूलक दोहे, (2) शृंगारी दोहे, (3) नीति-विषयक दोहे, (4) वीर रस दोहे ।¹³ कहना नहीं है कि दोहा अपभ्रंश का अपना वह लाड़ला छंद है जो अपनी लोकसंपृक्तता के कारण इतना लोकप्रिय है कि इसे छंद, बंध-विधा तथा भाषा सब रूपों में माना-जाना जाने लगा । यह मुक्तक और प्रबन्ध काव्य दोनों में समावृत्त है। सिद्ध कवियों के दोहों का संग्रहीत रूप पं. हरप्रसाद शास्त्री द्वारा सम्पादित 'बौद्ध गान ओ दोहा', पं. राहुल सांकृत्यायन संग्रहीत सरहपा कृत 'दोहाकोश', काणहपा का 'दोहाकोश', तिलोपा का 'दोहाकोश' आदि उल्लेखनीय हैं । अपभ्रंश में जैन कवियों ने तो इसे इसके पूरे वैभव के साथ उभाड़ा । देवसेन का 'सावयधम्म दोहा', जोइन्दु (योगीन्द्र) का 'परमप्पयासु, (परमात्मप्रकाश) तथा योगसार, रामसिंह का 'पाहुड दोहा', मुनिमहचन्द का 'दोहा पाहुड', 'मुज (रासो ?) के दोहे' संदर्भगर्भित 'हेमचन्द्र के दोहे' अपभ्रंश भाषा और साहित्य के अक्षय स्वर्णकोष हैं । अमृत के रस-कलश हैं । जीवन के रस-धार हैं । साहित्य-धर्म के भंडार हैं । प्राणधार के रूप में इन्हें चन्दवरदायी के 'पृथ्वीराज रासो', मेरुतुंगाचार्य की 'प्रबंध चिन्तामणि', विद्यापति की 'कीर्तिलता', 'ढोला मारूरा दूहा', नाथ सिद्धों की 'गोरखवानी', 'नाथवानियाँ, कबीर आदि संतों की दोहे-साखी, तुलसी, रहीम, वृन्द की दोहावली (याँ), बिहारी की 'सतसई', वियोगी हरि की 'वीर सतसई' आदि क्रमागत परवर्ती साहित्य में इसके आकर्षण को भलीभांति देखा जा सकता है । डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी का तो पूर्ण विश्वास है कि — सच बात तो यह है कि जहाँ 'दोहा' है वहाँ संस्कृत नहीं, प्राकृत नहीं, अपभ्रंश है' ।¹⁴ इसकी लोकसंपृक्ति और विधा के संदर्भ में एक रोचक प्रसंग का उदाहरण मिलता है । 'माइल्ल धवल' नामक कवि ने 'द्वस्सहावपयास' (द्रव्यस्वभाव प्रकाश) नामक ग्रंथ को पहले दोहा बंध (अर्थात् अपभ्रंश) में देखा था । लोग उनकी हंसी उड़ाते थे (शायद इसलिये कि अपभ्रंश गँवई भाषा थी) सो, उन्होंने गाहाबंध (प्राकृत) में कर दिया । स्पष्ट ही दोहाबंध का अर्थ है अपभ्रंश और गाहाबंध का प्राकृत । माइल्ल धवल कहते हैं —

द्वस्सहावपयासं दोहाबंधेण आसि जं विट्ठं ।

तं गाहाबन्धेणाय रडयं माइल्ल धवलेण ॥

— जो द्रव्यस्वभावप्रकाश नामक ग्रंथ पहले दोहाबंध में दिखता था उसे माइल्ल धवल ने गाथाबंध में लिखा ।¹⁵ इन उदाहरणों से 'दोहाविधा' की लोकसंपृक्ति प्रयुक्ति और प्रभाव स्वतःस्पष्ट है ।

अपभ्रंश के दोहे : सौन्दर्य की कसौटी

अपभ्रंश के दोहों के सौन्दर्य की कसौटी लोकसंपृक्ति है । ये सीधे लोक से उद्भूत होकर लोक को प्रभावित करते हैं । लोकचित्त को उद्वेलित करते हैं । भावनाओं को रंजित करते हैं । अभी तक अपभ्रंश का जो आदिरूप प्राप्त हुआ है वह है महाकवि कालिदास विरचित 'विक्रमोर्वशीयम्' के चतुर्थ अंक में प्रयुक्त वह दोहा जिसमें राजा पुरुरवा सामंतीय और राज संस्कृति के सभी जकड़बन्दियों, कायदा-कानूनों और नाट्यशास्त्रियों द्वारा निर्देशित संस्कृत में ही बोलने की बाध्यता को तोड़-छोड़कर अपनी प्रिया उर्वशी के विरह में अपनी सहज प्रेमिल भावनाओं को अपभ्रंश भाषा का अपना लाड़ला छंद 'दोहा' में अनायास मुखरित करता है -

मई जाणिअँ मिअलोअणी, णिसअरु कोइ हरेइ ।

जाव णु णवतइसामलि, धराहरु वरिसेइ ।।¹⁶

काली घटा छापी हुई है । बिजली चमक रही है । पुरुरवा को लगता है ऐसी चमक उसकी प्रिया उर्वशी के अलावा और किसी की नहीं हो सकती । तो फिर काले बादल जैसा कोई राक्षस मेरी प्रिया को हरे लिये जा रहा है । पर इतने में ही वे काले बादल बिजली की कड़क के साथ धरासार वर्षा करने लगे । तब फिर वह यह जानकर और दुःखी हो गया कि यह मेरी प्रिया नहीं बिजली है, काला राक्षस नहीं, बादल है । इस दोहा को कुछ विद्वान प्रक्षिप्त मानते हैं तो कुछ कालिदास विरचित । डॉ. परशुराम लक्ष्मण वैद्य के अनुसार यह लोकसाहित्य में प्रचलित रहा होगा जिसे कालिदास ने अपने नाटक में प्रयोग कर लिया होगा ।¹⁷ पर वास्तविकता यह है कि कालिदास जैसे पीयूषवर्षी कवि लोकभाषा के इस मार्मिक और लोकधर्मी छंद में रचना करने का लोभ संवरण नहीं कर सके होंगे और मौका तथा बहाना ढूँढ़कर उसे अपनी गोद में बैठा लिया होगा । इस दोहे में 'उकार' बहुलता, तुकांत की प्रवृत्ति, मातृक छन्द स्वरूप आदि सभी अपभ्रंश की अपनी निजी प्रवृत्तियाँ हैं । इसे अपनाकर कालिदास ने लोकोन्मुखी चेतना के प्रति अपनी गहरी संपृक्ति व्यक्त की है ।

दोहा विधा में निर्मित अपभ्रंश के इन दोहों में प्रेम, शृंगार, समर्पण, सारल्य, सहजता आदि कोमल भावनाओं का अद्भुत लोक-संस्पर्शी रूप मिलता है । संस्कृत साहित्य में माघ, भारवि, श्रीहर्ष आदि कवियों की वाग्विदग्धता, शब्दगुंफन, अलंकारिता, अनुप्रासों की छटा, यमकों की घटा, विकट पदबंध, बुद्धिवैभवजनित उक्तियों तथा 'पालि और प्राकृत' की वही अनुगमन की प्रवृत्ति की तुलना में अपभ्रंश के इन दोहों की सहज-सुकुमारता, मर्मस्पर्शिता, ओज-शौर्य-सम्पन्नता, वीरता-तप-त्याग से संवलित अव्याज मनोहरता अलग से भलीभांति पहचानी जा सकती है । हेमचन्द्र के दोहे, सदेशरासक, मुंजरसो (?), प्राकृत पैंगलम के दोहे आदि तो प्रेम-शृंगार की सहज भावनाओं के संचित भंडार ही हैं । इनमें तो स्वयंभू, पुष्पदन्त, धनपाल, त्रिभुवन की शास्त्रीयता, पांडित्य, अलंकार, पिंगल का विशेष रुझान भी नहीं है । बस, वही सरलता-निश्छलता, निराडंबरता और सहज लौकिक आकर्षणजन्य सौन्दर्य की छवि परिलक्षित होती है । कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य हैं -

इन दोहों में नायक-नायिकाओं में चोरी-चोरी, लुका-छिपी का प्रेम नहीं है । यहाँ 'भरे भौन में करत हैं नैनन ही सों बात'¹⁸ या घर-आँगन का ही प्रेम नहीं है । जीवन के कर्म क्षेत्र में हैसते-हैसते प्राण न्यौछावर करदेनेवाला प्रेम है । प्रिय को युद्ध क्षेत्र के लिए प्रस्थान करना ही करना है । प्रियतमा का उससे पुनः मिलना हो या न हो, क्या ठिकाना । पर कोई चिंता की बात नहीं - "प्रिया के लिए तो अगलित स्नेह में निबटा (पका) हुआ प्रिय यदि लाखों योजन

चला जाय और सौ वर्ष में भी यदि मिले तो भी हे सखि, सौख्य (प्रेम) का स्थान वही रहता है -

अगलिअ-नेह निवट्टाहँ जोअण लक्खु वि जाउ ।

वरिस-सएण वि जो मिलइ सहि सोक्खहँ सो ठाउ ।¹⁹

फिर यह विरहव्यथित प्रिया अन्तर और अन्तराल के बाद लौटे हुए प्रिय से केवल मिलकर ही संतोष कर लेगी । बिल्कुल नहीं । उसे एक अकृत (अपूर्व) कौतुक करना होगा । उसे तो प्रिय के सर्वांग में ऐसे पैठ जाना है जैसे मिट्टी के कसोरे में पानी प्रवेश कर जाता है । अंग-प्रत्यंग में भीन जाता है ।

जइ केवँइ पावीसु पिउ अकिया कुइ करीसु ।

पाणिउ नवइ सरावि जिवँ सव्वज्जं पइसीसु ।²⁰

अवश्य ही उपरोक्त प्रेम घनीभूत होगा । प्रिय में कोई दोष नहीं देख-सुन पायेगा । प्रिया सखी से कहती है कि यदि प्रिय कहीं सदोष दिखाई पड़ा हो तो मुझसे निभूत (एकांत) में ऐसे कहो कि उसका पक्षपाती मेरा मन न जान सके । पर ऐसा एकांत कहीं मिलेगा । अभिव्यक्ति कौशल का एक अद्भुत नमूना -

भण सहि निहुअउँ तेवँ मइं जइ पिउ दिट्ठ सदोसु ।

जेव न जाणइ मज्झु मणु पक्खावडिअ तासु ।²¹

यह कोई नयी बात नहीं है कि 'जब प्रीति गहराने लगती है तो दुर्जनों के मन में गौठ पड़ने लगती है'²² । उन्हें दोष नजर आने लगता है । वे गरजने लगते हैं । विरह के दिनों में तो ये और बिगड़ैल हो जाते हैं पर "अरे खल मेघ ! अब मत गरज, देखता नहीं है कि लवण पानी में विलीन हो रहा है, वियोगदग्ध झोपड़ा भीग रहा है और इतने दिन के विरह की मारी प्रिया आज प्रिय के प्रेमरस में सराबोर हो रही है" ।

लोणु विलिज्जइ पाणिण अरि खल मेह म गज्जु ।

वाल्लिउ गलइ सु झुम्पडा गोरी तिम्मइ अज्जु ।²³

प्रिय भी ऐसे ही क्षणों की प्रतीक्षा में अनेक मनोरथों को अपने मन में सँजो रहा है कि 'दुष्ट दिन कैसे जल्दी समाप्त हो, रात कैसे शीघ्र आये । और वह अपनी चिर नवीन बहू को देख-सुन-मिल सके' ।

केम समप्पउ दुट्ठ दिणु किध रयणी छुइ होइ ।

नव-वह-दंसण-लालसउ वहइ मणोरह सोइ ।²⁴

इसी प्रकार अब्दुल रहमान के 'सदेश रासक' तथा 'प्रबंध चिंतामणि' 'पुरातन-प्रबंध-संग्रह' में मुंज-मृणालवती से संबन्धित दोहों में प्रेम, मिलन, विरह की बड़ी ही मार्मिक अभिव्यंजना हुई है। इनका उत्स लोण लोककथाओं में दूँढ़ते हैं क्योंकि इनकी लोकसंपृक्ति इतनी अधिक है कि इनकी उपमाएँ ही लोकाधारित नहीं हैं अपितु लोकजीवन के गहरे लगाव इसमें पूर्णतया समाहित हैं । 'सदेश रासक' की नायिका को इस बात का संकोच है कि प्रिय के विछोह की पीड़ा में वह अभी तक जिन्दा है । पर वह क्या करे । लोक-परंपरा जीवन्तता की प्रेरणा देती है । और फिर "यह क्या अच्छा काम होगा यदि धरोहर के रूप में अवस्थित प्रिय को, कष्टकारी विरह के कारण उसे छोड़कर सुरलोक (मृत्यु) चली जाऊँ" -

पिय विरहानल संतविअ जइ वच्चउ सुर लोइ ।

तुह छड्डिवि हिअड्डियह तं परिवाडि ण होइ ।²⁵

पुरुषत्व को ललकारने की प्रथा लोकजीवन की अपनी विशेषता है । विरहिणी भी ऐसी ही वचन-भंगिमा के चातुर्य का प्रयोग करती हुई कहती है—विरह तो नारी हृदय की विवशता है पर क्या तुम्हारे पौरुष को चुनौती नहीं है । “क्या तुम नहीं जानते की जिन अंगों के साथ तुमने रंगरेलियों की वे ही अंग तुम्हारे हृदय तल में होते हुए भी विरह के द्वारा जलाये जा रहे हैं”—

गरुहउ परिहउ किं न सहउ, पइ पोरिस निलएण ।

जिहि अंगहिं तु विलसियउ, ते ददधा विरहेण ।²⁶

मुंज और मृणालवती से सम्बंधित दोहे अपने प्रसंग-गर्भत्व के कारण एक पूरी कहानी की पृष्ठभूमि लिये हुए हैं । इसमें साहसिक प्रेम और अतिकारुणिकता की भाव-दशा भले ही राजा-रानी की कहानी लिये हो, पर है वह लोकजीवनोद्भूत । यह परवर्ती प्रेमाख्यानक काव्यों के उत्स की एक कड़ी है । यदि नाम हटा दिया जाय तो यह कहानी लोकरस से युक्त लोक-कथा बन जायेगी । अपनी सरस प्रेमभंगिमा, अतिकारुणिक परिणति, निजी अनुभवों की पीड़ा के कारण मुंज के दोहों में जो मर्मस्पर्शिता मिलती है, अन्यत्र दुर्लभ है । जाते हुए ग्रीवन, छल-छद्म अपनाकर भी प्रेम को पकड़े रहने की असफलता, आत्मग्लानि से पीड़ित मृणालवती को मुंज जाते-जाते समझाता गया — ‘जाते हुए यौवन को न पछता । शर्करा के सौ खंड हो जाने पर भी उसका चूरा वैसा ही मीठा होता है —

मुंज भणइ मुणालवइ जुब्बण गयउ न झूरि ।

जइ सक्कर सय खंड थिय तो इस मीठी चूरि ।²⁷

अपभ्रंश के दोहे इस प्रकार जहाँ लोकचित्र की कोमल भावनाओं के विविध रूपों के साक्षात्कार से रससिक्त करते हैं, वहीं अपनी लोकोन्मुखी दृष्टि के चलते साधारण मनुष्य के सुख-दुःख को अपने दायरे में प्रतिष्ठित करते हैं । इसके साथ ही विशिष्ट की तुलना में अपनी पहचान को उद्घाटित करते हैं — किसान को अपनी खेतिहर जमीन कितनी प्यारी होती है, यह तथ्य किसी से छिपा नहीं है । यह विडंबना ही है कि शोषकों द्वारा वह भी छिन जाती है फिर भी किसान उसकी रक्षा के लिए संघर्ष करता है । जब उसका जीवन समाप्त होने को होता है तो वह अपने संघर्ष को अपने पुत्र के पौरुष को ललकारते हुए उसके हाथ में पकड़ा देता है । बेटा ! एक बात गौठ बौध ले कि उस पुत्र के पैदा होने या मरने से कोई लाभ-हानि नहीं जिसके बाप की भूमि दूसरों द्वारा हड़प ली जाय —

पुत्रे जाएँ कवणु गुणु अवगुणु कवणु मुएण ।

जा बप्पी की भुहडी चम्पिज्जइ अवरेण ।²⁸

यह जीवन-संघर्ष लोकजीवन की त्रासदिक जीवन गाथा है । वह आज भी समाप्त नहीं हुई है । अपभ्रंश के कतिपय दोहे अपनी लोकसंपृक्ति के कारण आज भी उतने ही प्रासंगिक हैं जितना प्रेमचंद जैसे लेखकों का आज का साहित्य । किसान की गरीबी, उसकी फटेहाली आज भी किसी भी सरकार या मानवता के लिए कलंक है । अपभ्रंश का कवि जन-जीवन की इस त्रासदिक पीड़ा को कितनी गहराई से छूता है, द्रष्टव्य है — किसानी पीड़ा के इस दर्द को मनुष्य पकड़े या न पकड़े, उसके जीवन का साथी उसका धीला बैल पकड़ता है, जहाँ जुये में एक तरफ वह और

दूसरी ओर उसका स्वामी जुत रहा है । स्वामी के इस गुरु भार पर वह औसू बहता है —
कि मुझे ही दो खंडों में करके दोनों दिशाओं में क्यों नहीं जोत दिया जाता —

धव्लु विसूरइ सामिअहो गरुआ भरु पिक्खेवि ।

हुउँ किं न जुत्तउ दुहँ दिसिहिं खण्डइँ दोण्णि करेवि ।²⁹

कहना नहीं है कि प्रेमचंद के 'पूस की रात' के हलकू और 'गोदान' के होरी की पीड़ा भी इसके आगे हलकी पड़ जाती है ।

अपभ्रंश के इन दोहों में लोकसंपृक्तता का जो नया स्वर सुनाई पड़ता है वह भी आज के जीवन के लिए कम प्रासंगिक नहीं है । साम्प्रदायिकता विहीन, सहज, स्वसवेदमार्गी कवियों के ये दोहे आदमी से आदमी की पहचान कराते हैं । सब प्रकार की जकड़बन्दियों को तोड़कर मानव और मानवीयता को तरजीह देते हैं । समरसता, सहजता, संतोष और आदमी के निर्माण में विश्वास करते हैं । 'काण्हपा' कहते हैं कि — 'समरस में अपना मन रागानुरक्त कर, जिसने सहज में ध्यान स्थिर किया वह उसी क्षण सिद्ध बन गया और जरामरण के भय से मुक्त हो गया' —

सहजे णिच्चल जेण किअ, समरसे णिअ-मण राअ ।

सिद्धो सो पुण तक्खणे, णउ जरामरणह भाअ ।³⁰

देवसेन कहते हैं कि — लोकप्रसिद्धि है कि धर्म से सुख और पाप से दुःख होता है, इसलिए ऐसा धर्माचरण करो जिसमें सबका हित हो —

धम्मे सुह पावेण दुह, एह पसिद्धउ लोइ ।

तम्हा धम्मु समायरहि जेहिय इच्छिउ होइ ।³¹

विभेदपरक, सहजता एवं समानता का जीवन काम्य है —

हुउँ गोरउ हुउँ सामलउ हुउँ जि विभिण्णउ वण्णु ।

हुउँ तणु-अंगउँ थूलु हुउँ एहउँ मूढउ मण्णु ।³²

इसी प्रकार ये कवि लोक-सवेद्य सहृदयता और उदारता के साथ सभी देवताओं और धर्मों को सम्मान की दृष्टि से देखते हैं, देवों का देह में निवास मानते हैं और कोई भेद-भाव नहीं मानते। आज भी ऐसी लोकधर्मी मान्यताओं की कितनी सार्थकता है, सहज विचारणीय है —

सो सिउ सकरु विण्ह सो, सो रुइ वि सो बुद्ध ।

सो जिणु ईसरु बभु सो, सो अण्तु सो सिद्ध ।

एवँहि लक्खण लक्खियउ, जो पर णिक्कलु देउ ।

देहहँ मज्झहिं सो वसइ, तासु ण विज्जह भेउ ।³³

1. हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, डॉ. नामवर सिंह, पृष्ठ 3 ।

2. वाक्यपदीयम्, ब्रह्मकांड, भर्तृहरि, पृ. 148 ।

3. पुरानी हिंदी, पं. चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, पृ. 8 ।

4. महाभाष्यम्-किल्लहार्न संस्करण, भाग 1, पृ. 6, तथा 468; भाग 3, पृ. 359 (पर अपभ्रंश शब्द पर विचार का संदर्भ) ।

5. काव्यादर्श, 1-36 ।
6. नाट्यशास्त्रम्, 17-55 ।
7. हिन्दी साहित्य, प्रथम खंड, सम्पा. डॉ. धीरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ 384 ।
8. अपभ्रंश रचना सौरभ, डॉ. कमलचन्द सोगाणी, प्रस्तावना, पृष्ठ iii ।
9. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ. 97 ।
10. नयी कहानी : संदर्भ और प्रकृति, सम्पा. डॉ. देवीशंकर अवस्थी, पृष्ठ 63-64 ।
11. हिंदी साहित्य का बृहत् इतिहास, प्रथम भाग, सम्पा. डॉ. राजबली पाण्डेय, खंड 2, अध्याय 3, पृ. 247 ।
12. हिंदी साहित्य का उद्भव और विकास, डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ 10 ।
13. हिंदी साहित्य का उद्भव और विकास, डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ. 11-12 का आधार।
14. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ 98 ।
15. जैन साहित्य का इतिहास, नाथूराम 'प्रेमी', पृ. 168 ।
हिन्दी साहित्य का आदिकाल, डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ. 98 पर उद्धृत ।
16. कालिदास ग्रंथावली, विक्रमोर्वशीयम्, चतुर्थ अंक, छंद 8, सम्पा. पं. सीताराम चतुर्वेदी, पृ. 216 ।
17. हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास - 1, पृ. 244 ।
18. बिहारी सतसई, बिहारी रत्नाकर, 32 ।
19. प्राकृत-व्याकरणम्, आचार्य श्री हेमचन्द्र, 4-332 ।
20. वही, 4-396.4 ।
21. उपर्युक्त, 4-401. 4 ।
22. दृग उरझत, टूटत कुटुम्, जुरत चतुर-चित प्रीति ।
परति गौठ दुरजन-हिदै, दई, नई यह रीति ॥
बिहारी-रत्नाकर, छं. सं. 363 ।
23. प्राकृत-व्याकरणम्, आचार्य श्री हेमचन्द्र, 4-418. 5 ।
24. वही, 4-401. 1 ।
25. सदेश रासक, सम्पा. पं. हजारीप्रसाद द्विवेदी, विश्वनाथ त्रिपाठी, प्रथम प्रक्रम 10/148 ।
26. वही, द्वितीय प्रक्रम 77/164 ।
27. प्रबंध चिंतामणि, छं. सं. 4 ।
28. प्राकृत-व्याकरणम्, हेमचन्द्राचार्य 4-395.6 ।
29. उपर्युक्त 4-340.2 ।
30. हिन्दी काव्यधारा, पं. राहुल सांकृत्यायन, 19/148 ।
31. वही, 101/170 ।
32. परमात्मप्रकाश व योगसार चयनिका,
सम्पा. डॉ. कमलचन्द सोगाणी, प्राकृत भारती अकादमी, 35/14 ।
33. योगसार, हिन्दी काव्यधारा, पं. राहुल सांकृत्यायन, 105,106/252 ।

फागुण-मासु पवोलिय तावेहिँ

कुव्वर-णयरु पराइय जावेहिँ, फागुण-मासु पवोलिअ तावेहिँ ।
 पड्डु वसन्तु-राउ आणन्दे, कोइलु-कलयल-मङ्गल-सदे ।
 अलि-मिहणेहिँ वन्दिणेहिँ पढन्तेहिँ, वरहिण-वावणेहिँ णच्चन्तेहिँ ।
 अन्दोला-सय-तोरण-वारेहिँ, हुङ्कु वसन्तु अणेय-पयारेहिँ ।
 कत्थइ चूअ-वणइँ पल्लवियइँ, णव-किसलय-फल-फुल्लब्भहियइँ ।
 कत्थइ गिरी-सिरहइँ विच्छायइँ, खल-मुहइँ व मसि वणइँ णायइँ ।
 कत्थइ गिज्जइ वज्जइ मन्दलु, णर-मिहणेहि पणच्चिउ गोन्दलु ।
 त तहो णयरहोँ इत्तर-पासेहिँ, जण-मणहरु जोयण-उद्देसेहिँ ।
 दिट्ठु वसन्ततिलउ उज्जाणउ, सज्जण-हियर जेम अ-पमाणउ ।

घत्ता - सुहलु सुयन्धउ डोल्लन्तु वियावड-मत्थउ ।
 अगगएँ रामहोँ ण थिउ कुसुमजलि हत्थउ ॥

पउमचरिउ,
 26.5

— जब वे (राम-सीता और लक्ष्मण वनवास के समय) कुबेर नगर पहुँचे तब फागुन माह आ चुका था । वसन्तराज ने कोयलों के कल-कल और मंगल-शब्द के साथ आनन्द से प्रवेश किया । पढ़ते हुए मंगलपाठ करते हुए अलिमिथुनों से, नाचते हुए मयूररूपी वामनों से, आन्दोलित (झूमते हुए) सैकड़ों तोरण द्वारों से, (और भी) अन्य प्रकारों से (जात हो जाता था कि) 'वसन्त' आ पहुँचा (है) । कहीं पर नव किसलय, फल और फूलों से लदे हुए आम्रवन पल्लवित हो उठे । कहीं पर गिरिशिखर इस प्रकार कान्तिहीन हो गये कि (वे) दुष्टों के श्यामवर्ण मुख की तरह ज्ञात होते थे । कहीं पर गाया जा रहा है, कहीं पर बजाया जा रहा है (और कहीं पर) मनुष्य-युगलों द्वारा हर्ष-ध्वनि की जाती है । उस नगर उत्तर (दिशा) की ओर एक योजन की दूरी पर लोगों को सुन्दर लगनेवाला वसन्ततिलक नामक उद्यान दिखाई दिया जो सज्जनों के हृदय की तरह सीमाहीन था ।

सुगन्धित, झूमता हुआ, अच्छे फलों से युक्त वह (उद्यान) मानों नतमस्तक हो हाथों में कुसुमाञ्जलि लेकर राम के आगे स्थित हो ।

अनु., डॉ. देवेन्द्रकुमार जैन

अपभ्रंश साहित्य में प्रकृति-वर्णन

• डॉ. इन्द्र बहादुर सिंह

मनुष्य जब अपने कार्य के भार से दबकर मुर्दा-सा हो जाता है, तब उस शव में प्राण फूँकने-वाली जो शक्ति है, उसी का नाम 'प्रकृति' है, जिसका कि पतन भी मनुष्य का उत्थान कराता है। प्रकृति और मानव का सम्बन्ध उतना ही पुराना है जितना कि सृष्टि के उद्भव और विकास का इतिहास प्राचीन है। प्रकृति माँ की गोद में ही प्रथम मानव-शिशु ने आँखें खोली थीं, उसी की क्रीड़ा में खेलकर वह बड़ा हुआ और अन्त में उसी के आलिंगन-पाश में आबद्ध होकर वह चिर-निद्रा में सोता रहा। प्रकृति के अद्भुत क्रिया-कलापों से उसकी हृदयस्थ भावनाओं — भय, विस्मय, प्रेम आदि का स्फुरण हुआ, उसी की नियमितता को देखकर उसके मस्तिष्क में ज्ञान-विज्ञान की बुद्धि का विकास हुआ। दार्शनिक दृष्टि से भी प्रकृति और मानव का सम्बन्ध स्थायी है, चिरंतन है। सत्-रूपी प्रकृति, चित्-रूपी जीव और आनन्दरूपी परम-तत्त्व — तीनों ही मिलकर सच्चिदानन्द परमेश्वर की सत्ता का रूप धारण करते हैं। शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक तीनों ही दृष्टियों से प्रकृति मानव का पोषण करती हुई उसे जीवन में आगे बढ़ाती है।

दृश्य प्रकृति मानव-जीवन को अथ से इति तक चक्रवाल की तरह घेरे रहती है। प्रकृति के विविध कोमल-कठिन, सुन्दर-विरूप, व्यक्त-रहस्यमय रूपों के आकर्षण-विकर्षण ने मनुष्य की बुद्धि और हृदय को कितना परिष्कार और विस्तार दिया है, इसका लेखा-जोखा करने पर मनुष्य प्रकृति का सबसे अधिक ऋणी ठहरेगा। वस्तुतः संस्कार-क्रम से मानव जाति का भावजगत् ही नहीं, उसके चिन्तन की दिशाएँ भी प्रकृति के विविध रूपात्मक परिचय तथा उससे उत्पन्न अनुभूतियों से प्रभावित हैं। मानव और प्रकृति के इस अटूट सम्बन्ध की अभिव्यक्ति धर्म, दर्शन, साहित्य और

कला में चिरकाल से होती रही है । साहित्य मानव-जीवन का प्रतिबिम्ब है, अतः उस प्रतिबिम्ब में उसकी सहचरी प्रकृति का प्रतिबिम्बित होना स्वाभाविक है । इतना ही नहीं, प्रकृति मानव-हृदय और काव्य के बीच संयोजक का कार्य भी करती रही है । ऐसी स्थिति में काव्य, जो बुद्धि के मुक्त वातावरण में खिला भावभूमि का फूल है, प्रकृति से रंग-रूप पाकर विकसित हो सका तो आश्चर्य नहीं ।

हमारे देश की धरती इतनी विराट है कि उसमें प्रकृति की सभी सरल-कुटिल रेखाएँ और हल्के-गहरे रंग एकत्र मिल जाते हैं । परिणामतः युग विशेष के काव्य में भी प्रकृति की अनमिल रेखाएँ और विरोधी रंगों की स्थिति अनिवार्य है । पर इन विभिन्नताओं के मूल में भारतीय दृष्टि की वह एकता अक्षुण्ण रहती है जो प्रकृति और जीवन को किसी विराट समुद्र के तल और जल के रूप में ग्रहण करने की अभ्यस्त है ।

हमारे यहाँ प्रकृति जीवन का वातावरण ही नहीं आकार भी है । हमारी प्रकृति की काव्य-स्थिति में देवता से देवालय तक का अवरोह और देवालय से देवता तक का आरोह दोनों ही मिलते हैं । सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय इस प्रकृति देवता के अनेक रूपों की अवतार-कथा है, जो इस देश की समृद्ध कल्पना और भाव-वैभव की चित्रशाला है ।

वैदिक-काल के ऋषि प्राकृतिक शक्तियों से अभीत होने के कारण उनकी अर्चना-वन्दना करते थे, ऐसी धारणा संकीर्ण ही नहीं भ्रान्त भी है । उषा, मरुत, इन्द्र, वरुण जैसे सुन्दर, गतिशील, जीवनमय और व्यापक प्रकृति-रूपों के मानवीकरण में जिस सूक्ष्म निरीक्षण, सौन्दर्यबोध और भाव की उन्नत भूमि की अपेक्षा रहती है, वह अज्ञानजनित आतंक में दुर्लभ है । इसके अतिरिक्त मनोविकार और उनकी अभिव्यक्ति ही तो काव्य नहीं कहला सकती । काव्य की कोटि तक पहुँचने के लिए अभिव्यक्ति को कला के द्वार से प्रवेश पाना होता है ।

हमारे वैदिक-कालीन प्रकृति-उद्गीर्ण भाव की दृष्टि से इतने गंभीर और व्यंजना की दृष्टि से इतने पूर्ण और कलात्मक हैं कि उन्हें अनुभूत न कहकर स्वतःप्रकाशित अथवा अनुभावित कहा गया है । इस सहज सौन्दर्यबोध के उपरान्त जो जिज्ञासामूलक चिन्तना जागी वह भी प्रकृति को केन्द्र बनाकर घूमती रही । वेदान्त का अद्वैतमूलक सर्ववाद हो या सांख्य का द्वैतमूलक पुरुष-प्रकृतिवाद, सब चिन्तन-सरणिँयों प्रकृति के धरातल पर रह कर महाकाश को छूती रहीं ।

उठती-गिरती लहरों के साथ उठने-गिरने वाले को जैसे सब अवस्थाओं में जल की तरलता का ही बोध होता रहता है, उसी प्रकार वैदिक-काल के अलौकिक प्रकृतिवाद से छादस संस्कृत काव्य की स्नेह सौहार्दमयी सगिनी प्रकृति तक पहुँचने पर भी किसी विशेष अन्तर का बोध न हो यह स्वाभाविक है ।

संस्कृत काव्यों के पूर्वाङ्क में प्रकृति ऐसी व्यक्तित्वमयी और स्पन्दनशील है कि हम किसी पात्र को एकाकी की भूमिका में नहीं पाते । कालिदास या भवभूति की प्रकृति को जड़ और मानव-भिन्न स्थिति देने के लिए हमें प्रयास करना पड़ेगा । जिस प्रकार हम पर्वत, वन, निर्झर आदि से शून्य धरती की कल्पना नहीं कर सकते, उसी प्रकार इन प्रकृति के रूपों के बिना मानव की कल्पना हमारे लिए कठिन हो जाती है ।

संस्कृत काव्य के उत्तरार्द्ध की कहानी कुछ दूसरी है । भाव के प्रवाह के नीचे बुद्धि का कठोर धरातल अपनी सजल एकता बनाये रहता है, किन्तु उसके रुकते ही वह पकिल और अनमिल दरारों में बैठ जाने के लिए विवश है ।

अपभ्रंश काव्य को संस्कृत काव्य की जो परम्परा उत्तराधिकार में प्राप्त हुई, वह रूढ़िगत तो हो ही चुकी थी, साथ ही एक ऐसे युग को पार कर आयी थी, जो संसार को दुःखमय मानने का दर्शन दे चुका था। जीवन की देशकालगत परिस्थितियों ने इस साहित्य-परम्परा को इतना अवकाश नहीं दिया कि वह अपनी कठोर सीमाओं को कुछ कोमल कर सकती। परन्तु जिस प्रकार जीवन के लिए यह सत्य है कि वह अंश-अंश में पराजित होने पर भी सर्वांश में कभी पराजित नहीं होता, उसी प्रकार प्रकृति भी अपराजित ही रही है। हर नवीन युग की भावभूमि पर वह ऐसे नये रूप में आविर्भूत होती रहती है जो न सर्वतः नवीन है और न पुरातन।

काव्य में प्रकृति-वर्णन दो रूपों में पाया जाता है। प्रकृति का स्वतंत्र, आलंबन रूप में और नायक-नायिका के भावों के उत्तेजक रूप में। बाह्य प्रकृति का प्रभाव हमारी अंतःप्रकृति पर अपने आप पड़ता है। किन्तु अपभ्रंश काव्य के उदय काल में प्रकृति के इस स्वच्छंद वर्णन की प्रणाली समाप्तप्रायः हो चुकी थी। मध्यकालीन संस्कृत कवियों ने साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र की भौति प्रकृति-वर्णन में भी बैधी-बैघाई परिपाटी का ही अनुसरण किया है। आरम्भिक अपभ्रंश कविता के लिए अपने समकालीन संस्कृत साहित्य से प्रभावित होना अनिवार्य था। फलतः तत्कालीन अपभ्रंश कविता में भी स्वतंत्र प्रकृति-वर्णन का अभाव है। इन कवियों की कल्पना प्राकृतिक दृश्यों के चित्रण में वाल्मीकि, कालिदास, भवभूति आदि की भौति ऐसे रूपों की योजना करने में नहीं प्रवृत्त होती थी, जिनसे किसी दृश्य का पूर्ण चित्र आँखों के सामने उपस्थित हो और जो चित्र स्वतंत्ररूप से स्वयं पाठक या श्रोता के भाव के आलंबन हों।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का अनुमान है कि कालिदास के समय से या उसके कुछ पहले ही से दृश्य-वर्णन के संबंध में कवियों ने दो मार्ग निकाले। स्थल-वर्णन में तो वस्तु-वर्णन की सूक्ष्मता बहुत दिनों तक बनी रही पर ऋतु-वर्णन में चित्रण उतना आवश्यक नहीं समझा गया, जितना कुछ इनी-गिनी वस्तुओं का कथनमात्र करके भावों के उद्दीपन का वर्णन।¹ शुक्लजी ने आगे लिखा है कि 'जान पड़ता है ऋतु-वर्णन वैसे ही फुटकर पद्यों के रूप में पढ़ा जाने लगा, जैसा बारहमासा पढ़ा जाता है। अतः उनमें अनुप्रास और शब्दों के माधुर्य आदि का ध्यान अधिक रहने लगा।' संस्कृत साहित्य में ऋतु-वर्णन सबसे पहले शायद 'ऋतुसंहार' में ही मिलता है। उसमें कालिदास ने इतर स्थलों की भौति शुद्ध प्रकृति-वर्णन नहीं किया है, अपितु विविध वस्तुओं में प्रकृति का उद्दीपन रूप चित्रित किया है और उसे मनुष्यों के केलिविलास के ही संदर्भ में देखा है। 'मेघदूत' के प्रकृति-चित्रण और 'ऋतुसंहार' के प्रकृति-चित्रण में उद्देश्यभिन्नता स्पष्ट है।

कभी-कभी कवियों ने एक साथ ही सभी ऋतुओं का वर्णन विशिष्ट पद्धति में न करके यथावसर पात्रों के मुँह से ऋतुसौन्दर्य का उद्घाटन करवाया है। कहीं-कहीं इस प्रकार के वर्णन इतने सुन्दर और स्वाभाविक हैं कि वे स्वतंत्र प्रकृति-वर्णन से कम अच्छे नहीं हैं। राजशेखर की कर्पूरमंजरी में इस प्रकार के कई सुन्दर प्राकृत श्लोक मिलते हैं।²

महाकाव्यों में तो अधिक अवकाश होने और लक्षण-पालन के लिए स्वतंत्र प्रकृति-वर्णन के लिए थोड़ा-बहुत बहाना मिल जाता था - स्वयंभूदेव विरचित 'पउमचरिउ' में महान् इन्द्रधनुष को हाथ में लेकर मेघरूपी गज पर सवार होकर पावसराज ने ग्रीष्मराज पर चढ़ाई कर दी। दोनों राजाओं के युद्ध का वर्णन बड़ा सरस बन पड़ा है -

धग धग धग धगंतु उद्दाइउ, हस हस हस हसंतु संपाइउ ।

जल जल जल जलंतु पजलंतउ, जालावलि फुलिग मेल्लंतउ ।

धूमावलि धयदडुब्भेष्पिणु, वरवाउलिखगु कड्डेष्पिणु ।
 झड झड झड झडंतु पहरंतउ, तरुवर रिउ भड भज्जंतउ ।
 मेहमहागयघड विहडंतउ, ज उणहालउ दिट्टु भिडंतउ ।
 धणु अप्फालिउ पाउसेण, तडि-टकार-फार दरिसते ।
 चोएवि जलहर-हत्थि हड, णीर-सरासणि मुक्क तुरंते ।³

पावसराज ने धनुष का आस्फालन किया, तड़ित्तरूप में टंकार-ध्वनि प्रकट हुई, मेघ-गजघटा को प्रेरित किया और जलधारा-रूप में सहसा बाण-वर्षा कर दी । वर्षारूपी युद्ध के दृश्य की भयंकरता कवि ने अनुरणनात्मक शब्दों के प्रयोग से प्रकट की है ।

पावसराज और ग्रीष्मराज के युद्ध में ग्रीष्मराज युद्धभूमि में मारा गया । पावसराज के विजयोल्लास का वर्णन उत्प्रेक्षालंकार में कवि ने सुन्दरता से किया है -

ददुदुर रडेवि लग्ग ण सज्जण, ण णच्चन्ति मोर खल दुज्जण ।
 ण पूरन्ति सरिउ अक्कंदे, ण कइ किलकिलन्ति आणदिं ।
 ण परहुय विमुक्क उग्घोसें, ण वरहिण लवन्ति परिओसें ।
 ण सरवर बहु-असु-जलोल्लिय, ण गिरिवर हरिसें गजोल्लिय ।
 ण उण्हविय दवगिग विओरै, ण णच्चिय महि विविह-विणोए ।
 ण अत्थमिउ दिवायर दुक्खे, ण पइसरइ रयणि सई सुक्खे ।⁴

पावस में दादुरों का रटना, मोरों का नाचना, सरिताओं का उमड़ना, बंदरों का किलकिलाना, पर्वतों का हर्ष से रोमांचित होना आदि तो सब स्वाभाविक और संगत हैं; किन्तु कोकिल का बोलना कवि संप्रदाय के विरुद्ध है ।

स्वयंभू का प्रकृति-वर्णन प्राचीन परम्परा को लिये हुए है । कवि ने अलंकारों के प्रयोग के लिए भी प्रकृति का वर्णन किया है -

णव-फल-परिपक्काणणे काणणे ।
 कुसुमिय साहारए साहारए ।

इसी प्रकार मगध देश का वर्णन करता हुआ कवि कहता है -

जहिं सुय-पतिउ सुपरिट्ठिआउ । ण वणसिरि-मरगय-कंठियाउ ।
 जहिं उच्छु-वणइं पवणाहयाइं । कंपति व पीलणभय गयाइं ।
 जहिं णदण-वणइं मणोहराइं । णच्चति व चल-पल्लव-कराइं ।
 जहिं फाडिय-वयणइं दाडिमाइं । णज्जति ताइं न कइ-मुहाइं ।
 जहिं महयर-पतिउ सुदराउ । केयइ-केसर-रय-धूसराउ ।
 जहिं दक्खा-मंडव परियलति । पुणु पथिय रस-सलिलइं पियन्ति ।⁵

अर्थात् जहाँ वृक्षों पर बैठी शुक-पत्ति वनश्री के कंठ में मरकतमाला के समान प्रतीत होती है । जहाँ पवन से प्रेरित इक्षु वन काटेजाने के भय से भीत हो मानो काँप रहे हैं । जहाँ चंचल पल्लवरूपी करीबाले मनोहर नंदन वन मानो नाच रहे हैं । प्रस्फुटवदनवाले दाडिमफल बन्दर के मुखों के समान दिखाई देते हैं । जहाँ सुन्दर भ्रमर-पत्ति केतकी केसररज से धूसरित है ।

जहाँ द्राक्षा-मंडप के हिलने से पथिक मधुर रसरूपी सलिल का पान कर रहे हैं । इस प्रकार के वर्णन में अलंकारप्रियता के साथ-साथ कवि की सूक्ष्म निरीक्षण-शक्ति और परम्परा से ऊपर उठ कर लोक-दर्शन की भावना भी अभिव्यक्त हो रही है । यहाँ पर प्रकृति का उदीपन रूप में वर्णन न कर आलंबनात्मक रूप में कवि ने वर्णन किया है ।

समुद्र का वर्णन करते हुए कवि कहता है —

मण-गमणेहिं गयणि पयट्टएहिं, लक्खिउ-लवण समुद्दिह ।
महि-मंडयहो णहयल-रक्खसेण, फाडिउ जठर-पयेसु जिह ॥⁶

समुद्र क्या है मानो नभतल राक्षस ने महिमंडल के जठर प्रदेश को फाड़ दिया हो । फटे हुए जठर प्रदेश में रक्त के बहने से एक तो समुद्र का रंग रक्तवर्ण होना चाहिए, दूसरे इस उपमा से समुद्र की भयकरता का भाव उतना व्यक्त नहीं होता जितना जुगुप्सा का । इसी प्रकरण में कवि ने श्लेष से समुद्र की तुलना कुछ ऐसे पदार्थों से की है जिनमें शब्द-साम्य के अतिरिक्त और कोई साम्य नहीं —

सुहव-पुरिसो व्व सलोण-सीलु ।
दुज्जण पुरिसो व्व सहाव-खारु ।
णिद्धण-आलावु व अप्पमाणु ।
जोइसु व मीण-कक्कडय-थाणु ।
महकव्व-णिबन्धु व सह-गहिरु ।⁷

समुद्र सत्कुलोत्पन्न पुरुष के समान है; क्योंकि दोनों सलोणशील हैं अर्थात् समुद्र सलवण (शील) और सत्कुलोत्पन्न पुरुष सलावण्यशील । इसी प्रकार समुद्र दुर्जन पुरुष के समान स्वभाव से क्षार है । निर्घन के आलाप के समान अप्रमाण है । ज्योति-मंडल के समान मीन (मीन राशि तथा मछली) कर्कट (कर्क राशि तथा जलजन्तु विशेष) निधान है । महाकाव्य निर्बन्ध के समान शब्द-गंभीर है ।

कवि का गोदावरी नदी का वर्णन भी दर्शनीय है —

थोवंतरे मच्छुत्थल्ल दिति । गोला णइ दिट्ठ समुव्वहंति ।
सुसुयर घोर-घुरु-घुरु-हरंति । करि-मयरुड्ढोहिय इहु-इहंति ।
डिंडीर-संड-मंडलिय दिति । ददुदुरय-रडिय डुरु-डुरु-डुरंति ।
कल्लोलुल्लोलहिं, उव्वहंति । उग्घोस-घोस-घव-घव-घवति ।
पडि-खलण-वलण खल-खलखलति । खल-खलिय-खलक्क-झडक्क दिति ।
ससि-संख-कुंद-धवलोज्झरेण । कारंहुड्ढाविय डवरेण ।
फेणावलि वकिय, वलयालकिय, ण महि कुलबहुणअहे तणिय ।
जलणिहि भत्तारहो, मोत्तिय-हारहो, वाह पसारिय दाहिणिय ॥⁸

भाषा अनुप्रासमयी है । भावानुकूल शब्द योजना है । शब्दों की ध्वनि नदी-प्रवाह को अभिव्यक्त करती है ।

प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन करते हुए उनकी भिन्न-भिन्न दृश्यों या घटनाओं से तुलना करना या प्रकृति को उपमेय मानकर उसके अन्य उपमानों के प्रयोग की प्रणाली भी कवि ने अपनायी है । वन का वर्णन करता हुआ कवि कहता है —

कथ्य वि उड्डाविय सउण-सय, ण अडविहे उड्ड वि पाण गय ।
 कथ्य वि कलाव णच्चति वणे, णावइ णट्टावा जुवइ-जणे ।
 कथ्य इ हरिणइ भय-भीयाइ, संसारहो जिह पव्वइयाइ ।
 कथ्य वि णाणाविह-रुक्ख राइ, ण महि कुलवहुअहे रोम-राइ ।⁹

इसी प्रकार सागराभिमुख प्रवाहित होती हुई नर्मदा नदी का वर्णन कवि ने प्रियतम से मिलन के लिए जाती हुई साज-सज्जा-युक्त स्त्री के रूप में किया है -

णम्मयाइ मयरहरहो जतिण, णाइ पसाहणु लइउ तुरतिण ।
 घवघवति जे जल-पढभारा, ते जि णाई णेउर-झकारा ।
 पुलिणई जाई बे वि जासु सच्छायई, ताई जि उड्डणाई ण जायई ।
 जं जलु खलइ वलइ उल्लोलइ, रसणा दामु तं जि णं घोलइ ।
 जे आवत्त समुट्ठिय चंगा, ते जि णाई तणु तिवलि तरंगा ।
 जे जल हत्थि कुम्भ सोहिल्ला, ते जि णाई थण अद्धुम्मिल्ला ।
 जे डिंडीर णियरु अंदोलइ, णावइ सो जि हारु रंखोलइ ।
 जं जलयर रण रगिउ पाणिउ, तं जि णाई तम्बोलु समाणिउ ।
 मत्तहत्थि मय मइलिउ जं जलु, तं जि णाई किउ अक्खिहिं कज्जलु ।
 जाउ तरंगिणीउ अवर उहउ, ताइ जि भंगुराउ णं भउहउ ।
 जाउ भमर पतिउ अल्लीणउ, केसावलिउ ताउ णं दिण्णउ ।¹⁰

नर्मदा के शब्द करते हुए जल-प्रवाह नूपुर झंकार के सदृश हैं, दोनों सुन्दर पुलिन उपरितन वस्त्र के समान हैं । स्खलित और उच्छ्वलित जल रशनादाम की भ्राति को उत्पन्न करता है, उसके आवर्त शरीर की त्रिवली के समान हैं, उसमें जल हस्थियों के सजल गण्डस्थल अधोन्मीलित स्तनों के समान हैं । आदोलित फेनपुंज लहराते हार के समान प्रतीत होता है, - - - - इत्यादि ।

महापुराण¹¹ में चरित नायकों के वर्णन के अतिरिक्त प्रकृति के अनेक दृश्यों का मनोमुग्धकारी और हृदयहारी वर्णन कवि पुष्पदन्त ने किया है । ऐसे स्थलों से महापुराण भरा हुआ है । सूर्योदय¹², चन्द्रोदय¹³, सूर्यास्त¹⁴, संध्या¹⁵, नदी¹⁶, ऋतु¹⁷, सरोवर¹⁸, गंगावतरण¹⁹ आदि वर्णनों में कवि का प्रकृति के प्रति अनुराग प्रदर्शित होता है ।

प्राकृतिक दृश्यों में कवि ने प्रकृति का आलंबनरूप से सश्लिष्ट वर्णन किया है और इनके अनेक नवीन और मानव-जीवन से सम्बद्ध उपमानों का प्रयोग हुआ है । अनेक स्थलों पर नवीन कल्पना का परिचय भी मिलता है ।

सूर्यास्त का वर्णन करता हुआ कवि कहता है -

रमणिहिं सहं रमणु णिविट्ठु जाम, रवि अत्थ सिहरि संपत्तु ताम ।
 रत्तउ दीसइ णं रइहि णिलउ, णं वरुणासा वहु घुसिण तिलउ ।
 णं सग्ग लच्छिमाणिक्कु ढलितउ, रत्तुप्पलु णं णह सरह घुलिउ ।
 णं मुक्कउ जिण गुण सुद्धएण, णिय रायपुजु मयरद्धएण ।
 अद्धद्धउ जलणिहिं जलि पइट्ठु, णं दिसि कुंजर कुंभयलु दिट्ठु ।
 चुउ णिय छवि रंजिय सायरंभु, णं दिण सिरिणारिहिं तणउ गब्भु ।

रक्त वर्ण सूर्य ऐसा प्रतीत होता है मानो रति का निलय हो, या पश्चिमाशावधू का कुंकुम तिलक हो, मानो स्वर्ग लक्ष्मी का माणिका ढलक गया हो, या नभ-सरोवर का रक्त-कमल गिर पड़ा हो, अथवा जिनके गुणों पर मुग्ध हुए मकरध्वज ने अपना राग-पुंज छोड़ दिया हो, या समुद्र में अर्ध प्रविष्ट सूर्य-मंडल दिग्गज के कुम्भ के समान प्रतीत हो, निज छवि से सागर जल को रंजित करता हुआ सूर्य मानो दिनश्री-नारी के पतित गर्भ के समान गोचर हो । रक्तमणि भुवन-तल में भटकते-भटकते वास को न पाकर मानो पुनः रत्नाकर की शरण में गया हो, अस्तंगत सूर्य ऐसा जान पड़ता है मानो जल भरती हुई लक्ष्मी का कनकवर्ण कलश छूट कर जल में डूब गया हो । संध्या के राग से रंजित पृथ्वी ने पृथ्वीपति के विवाह पर धारण किया हुआ कुसुभी रंग मानो अब उतारा हो ।

कवि ने निम्नलिखित पक्तियों में प्रकृति और मानव का बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव से वर्णन किया है -

माणव-भ्रवण-भरह-खेत्तोवरि वियरणगमियवासरो ।

सीयारामलक्खणाणंदु व जामत्थमिओ दिणेशरो ॥²⁰

सीता-हरण के अनन्तर सीता-राम और लक्ष्मण के आनंद के अस्त हो जाने के समान सूर्य भी अस्त हो गया । मानव जगत् और प्राकृतिक जगत् का बिम्ब-प्रतिबिम्ब रूप से चित्रण निम्नलिखित उद्धरण में बहुत ही रम्य हुआ है । इसमें अस्त होते हुए सूर्य और अस्त होते हुए शूरवीरों का वर्णन करते हुए सायंकाल और युद्धभूमि में साम्य प्रदर्शित किया गया है -

एत्तहि रणु कयसूरत्थवणउ एत्तहि जायउ सूरत्थवणउ ।

एत्तहि वीरहं वियलिउ लोहिउ एत्तहि जगु संझारुइ सोहिउ ।

एत्तहि कालउ गयमय विब्भमु एत्तहि पसरइ मंदु तमीतमु ।

एत्तहि करिमोत्तियइ विहत्तइ एत्तहि उगगमियइ णक्खत्तइ ।

एत्तहि जयणरवइजसु धवलउ एत्तहि धावइ ससियर मेलउ ।

एत्तहि जोहविमुक्कइ चक्कइ एत्तहि विरहे रडियइ चक्कइ ।

कवणु णिसागमु किं किर तहिं रणु एउ ण बुज्झइ जुज्झइ भडयणु ।²¹

इधर रणभूमि में सूर-शूरवीरों का अस्त हुआ और उधर सायंकाल सूर-सूर्य का । इधर वीरों का रक्त विगलित हुआ और उधर जगत् संध्या-राग से शोभित हुआ । इधर काला गजों का मद और उधर धीरे-धीरे अंधकार फैला । इधर हाथियों के गंडस्थलों से मोती विकीर्ण हुए और उधर नक्षत्र उदित हुए । इधर विजयी राजा का धवल यश बढ़ा और उधर शुभ्र चन्द्र । इधर योद्धाओं से विमुक्त चक्र और उधर विरह से आक्रन्दन करते हुए चक्रवाक । उभयत्र सादृश्य के कारण योद्धागण निशागम और युद्धभूमि में भेद न कर पाये और युद्ध करते रहे ।

इस सायंकाल और युद्धभूमि के साम्य प्रतिपादन द्वारा कवि ने युद्धभूमि में सैनिकों, हाथियों, घोड़ों और अस्त्रों आदि की निविड़ता और तज्जन्य अंधकार सदृश धूलप्रसार का अंकन भी सफलता के साथ किया है ।

गंगा का वर्णन²² करते हुए कवि ने लिखा है - मत्स्यरूपी नयनोवाली, आवर्तरूपी गंभीर नाभिवाली, नवकुसुम-मिश्रित भ्रमररूपी केशपाशवाली, स्नान करते हुए हाथियों के गंडस्थल के समान स्तनवाली, शैवालरूपी नील चंचल नेत्रवाली, तटस्थित वृक्षों से पतित मधुरूपी कुंकुम से पिंग वर्णवाली,

चंचल जल-तरंग-रूपी वलिवाली, श्वेत बहते हुए झागरूपी वस्त्रवाली, पवनोद्धत शुभ्र तुषाररूपी हारवाली गंगा सुशोभित होती है ।

कवि पावस के नाद और वर्णजन्य प्रभाव से अधिक प्रभावित हुआ है । पावस का वर्णन आंखों में कालिमा और कानों में गर्जन उपस्थित करता है । विष और कालिन्दी के समान कृष्ण मेघों से अन्तरिक्ष व्याप्त हो गया है । गज गंडस्थल से उड़ाए मत्त भ्रमर समूह के समान काले-काले बादल चारों ओर छा रहे हैं । निरन्तर वर्षा धारा से भूतल भर गया है । विद्युत् के गिरने के भयंकर शब्द से द्युलोक और पृथ्वीलोक का अंतराल भर गया है । नाचते हुए मत्त मयूरों के कलरव से कानन व्याप्त है । गिरि नदी के गुहा-प्रवेश से उत्पन्न सर-सर नाद से भयभीत वानर चिल्ला रहे हैं । आकाश इन्द्रधनुष से अलंकृत मेघरूपी हस्तियों से घिर गया है । बिलों में जलधारा प्रवेश से सर्प क्रुद्ध हो उठे हैं । पी-पी पुकारता हुआ पपीहा जलबिन्दु-याचना करता है । सरोवरों के तटों पर हंस-पक्षि कोलाहल करने लगी । चंपक, चंदन, चिचिणी आदि वृक्षों में प्राण स्फुरित हो उठा ।²³

शब्द योजना से एक प्रकार की ऐसी ध्वनि निकलती-सी प्रतीत होती है कि बादलों के अनवरत शब्द से आकाश दिन और रात भरा हुआ है और रह-रह कर बिजली की चमक दिखायी दे जाती है । वर्षा की भयंकरता का शब्दों में अभाव है ।

वसंत ऋतु का वर्णन करते हुए कवि ने जहाँ अन्य पदार्थों का अंकन किया है, वहाँ एक ही घंटा में वसंत के प्रभावातिशय का ऐसा मनोहारी चित्रण किया है, जो लम्बे-लम्बे वर्णनों से भी नहीं हो पाता —

अंकुरियउ कुसुमिउ पल्लविउ महसमयागमु विलसइ ।

वियसति अचेयण तरु वि जहिं तहिं णरु किं णउ वियसइ ॥²⁴

अंकुरित, कुसुमित, पल्लवित वसंतागम शोभित होता है । जिस समय अल्पचेतन वृक्ष भी विकसित हो जाते हैं, उस समय क्या चेतन नर विकसित न हों ?

प्रकृति को चेतन रूप²⁵ में भी कवि ने लिया है । प्रकृति का परम्परागत वर्णन करता हुआ भी कवि प्रकृति को जीवन से सुसंबद्ध देखता है । अतएव ऐसे दृश्य जो मानव जीवन से संबद्ध हैं कवि की दृष्टि से ओझल नहीं हो पाते ।

इसी प्रकार भविसयत्तकहा²⁶ में 3.24.5 में अरण्य वर्णन, 4.3.1 में गहन वन वर्णन, 4.4.3 में संध्या वर्णन, 8.9.10 में वसंत का बड़ा सजीव व मनोमुग्धकारी वर्णन किया गया है । कवि ने प्रकृति का वर्णन आलंबन रूप में किया है । गहन वन का वर्णन करता हुआ कवि कहता है —

दिसा मंडल जत्य णाई अलक्खं ।

पहायं पि जाणिज्जइ जम्मि दुक्खं ॥

वन की गहनता से जहाँ दिशा मंडल अलक्ष्य था । जहाँ यह भी कठिनता से प्रतीत होता था कि यह प्रभात है ।

धवल कवि विरचित हरिवंशपुराण में भी स्थान-स्थान पर प्रकृति-वर्णन मिलता है । कवि ने मधुमास का वर्णन करते हुए लिखा है —

फगुणु गड महमासु परायउ, मयणुद्धलिउ लोउ अणुरायउ ।
 वय सय कुसुमिय चारु मणोहर, वहु मयरंद मत्त वहु महुयर ।
 गुमुगुमत खणमणई सुहावहिं, अहपणट्ठ पेम्मुउक्कोवहिं ।
 केसु व वणहिं धणारुण फुल्लिय, णं विरहग्गे जाल पमिल्लिया ।
 घरि-घरि णारिउ णिय तणु मंडहिं, हिंदोलहिं हिंडहि उग्गायहिं ।
 वणि परपुट्ठ महुरु उल्लावहिं, सिहिउलु सिहि सिहरेहिं धहावइ ।²⁷

फाल्गुन मास समाप्त हुआ और मघमास (चैत्र) आया । मदन उद्दीप्त होने लगा । लोक अनुरक्त हो गया । वन नाना पुष्पो से युक्त सुन्दर और मनोहर हो गया । मकरन्द पान से मत्त मधुकर गुणगुनाते हुए सुन्दर प्रतीत हो रहे हैं ! - - - - घरों में नारियों अपने शरीर को अलंकृत करती हैं, झूला झूल रही हैं, विहार करती हैं, गाती हैं, वन में कोयल मधुर आलाप करती हैं । सुन्दर मयूर नृत्य कर रहे हैं ।

रङ्घू कवि विरचित 'पद्मपुराण-बलभद्रपुराण' में भी प्रकृति वर्णन यत्र-तत्र मिलता है । कवि ने ग्रीष्मकाल का वर्णन अत्यन्त संक्षिप्त रूप में किया है -

पुणु उण्ह कालि पव्वय सिरेहिं ।
 खर किरण करावलि तप्पिरेहिं ॥
 सिरि रागम चउपहिं झाण लीणु ।
 अहणिसु तव तावे गत्त खीणु ॥²⁸

कवि पुष्पदंत द्वारा विरचित खण्ड काव्य 'णायकुमारचरिउ'²⁹ में वर्णित प्रकृति वर्णन में कोई नवीनता नहीं दिखायी देती । निम्नलिखित उद्धरण में बाण की शैली के अनुरूप कवि ने वट वृक्ष की सत्पुरुष से समानता दिखायी है । यहाँ शब्दगत साम्य के अतिरिक्त अन्य कोई साम्य नहीं । नवीन चित्रोत्पादिनी कल्पना का अभाव है -

सप्पुरिसु व थिरमूलाहिठाणु सप्पुरिसु व अकुसुमफलणिहाणु ।
 सप्पुरिसु व कइ सेविज्जमाणु सप्पुरिसु व दिय वरदिण्ण दाणु ॥
 सप्पुरिसु व परसंतावहारि सप्पुरिसु व पत्तुद्धरणकारि ।
 सप्पुरिसु व तहिं वडविडवि अत्थि जहिं करइ गंडकंडुयणु हत्थि ॥³⁰

'जसहरचरिउ'³¹ में शुकों का क्षेत्रों में चुगना, गौओं का इक्षु-खण्ड खाते हुए विचरण करना, वृषभ का गर्जन और जीभ से गौ को चाटना, भैंसों का मधरगति से चलना, प्रपापालिका बालिकाओं का पानी पिलाते-पिलाते अपना सुन्दर मुखचन्द्र दिखा कर पथिकों को लुभा लेना आदि सबका बड़ा स्वाभाविक वर्णन हुआ है ।³² इसी प्रकार सूर्योदय का वर्णन भी कवि ने बड़ा सजीव किया है -

इय महु चिंततहो अरुणयरु, णवपल्लवु णं कंकेल्लितरु ।
 उग्गमिउ दुमणि जणु रंजियउ, सिंदूरपुंजु णं पुंजियउ ।
 अरुणायवतु णं णह सिरिहि, णं चूडारयणु उदयगिरिहि ।
 लोहियलुद्धे जणु फाडियउ, णं कालि चक्कु भमाडियउ ।
 कुकुमपिंडु व दिसिकामिणिहिं, रत्तुप्पलु संझापामिणिहिं ।³³

'लोहिय लुद्धें जगु फाडियउ' में यद्यपि कुछ जुगुप्सा का भाव है किन्तु वर्णन में नवीनता है। इसी प्रकार शिप्रा नदी का सुन्दर वर्णन कवि ने किया है।³⁴ शब्द-योजना और छन्द प्रयोग से मन्द-मन्द गति से कल-कल ध्वनि करती हुई नदी की कल्पना बड़ी ही मनोरम बन पड़ी है। इसी प्रकार उद्यान वर्णन³⁵ आदि बड़ा सुन्दर बन पड़ा है। संध्या वर्णन में सूर्य के निस्तेज होने का श्लेष द्वारा कारण प्रतिपादन, संध्या के विलुप्त होने की कल्पना और चन्द्र का वर्णन परम्परा-भुक्त नहीं कवि की नवोन्मेषिणी प्रतिभा के द्योतक हैं। संध्या का लतारूप में जग-मंडप पर छा जाना, तारों के रूप में पुष्प और चन्द्र-रूप में फल का प्रतिपादन, सुन्दर कल्पना है।³⁶ प्रकृति का वर्णन शुद्ध आलंबन रूप में कवि ने किया है। मानव पृष्ठभूमि के रूप में प्रकृति का अंकन नहीं मिलता।

इसी प्रकार वीर कवि विरचित 'जबूसामिचरिउ'³⁷ में उद्यान³⁸ और वसन्तादि³⁹ के वर्णनों द्वारा कवि ने प्राकृतिक चित्र उपस्थित किया है। नयनदी कृत 'सुदसणचरिउ'⁴⁰ में कवि ने प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन में प्रायः सभी प्रसिद्ध उपमानों का प्रयोग किया है। यह वर्णन अधिकतर उद्दीपन रूप में ही दिखायी देता है। नदी⁴¹, वसंत⁴², प्रभात वर्णन⁴³ और सूर्यास्त वर्णन द्वारा सुन्दर चित्र अंकित किया है। इस कवि के वसन्तोत्सव, उपवन विहार, सूर्यास्त आदि वर्णनों में उसका बाह्य-प्रकृति का निरीक्षण दिखायी देता है। अतः प्रकृति का निरीक्षण स्त्री-प्रकृति अंकन में दृष्टिगत होता है।

'करकंडचरिउ'⁴⁴ में कवि ने यद्यपि प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन किया है, किन्तु वर्णनों में कोई विशेष चमत्कार और नवीनता नहीं मिलती। कवि का हृदय प्रकृति में भली-भाँति रम नहीं पाया। प्रकृति उसके हृदय में वह स्पन्दन और स्फूर्ति नहीं पैदा कर सकी, जो इसके पूर्व पुष्पदन्त आदि कवियों में दिखायी देती है। उदाहरण के लिए गंगा वर्णन⁴⁵ और सरोवर वर्णन⁴⁶ को देखा जा सकता है।

'पउमसिरीचरिउ'⁴⁷ में प्रकृति के कुछ खंडचित्र कवि ने अंकित किये हैं। वर्णन नायक-नायिका के कार्य की पृष्ठभूमि के रूप में उपलब्ध होते हैं। पद्मश्री युवावस्था में पदारपण करती है, उसके और समुद्रदत्त के हृदय में पूर्वाङ्गराग को उत्पन्न करने के लिए कवि ने वसंत मास का⁴⁸ और अपूर्वश्री उद्यान की शोभा का⁴⁹ वर्णन किया है। वर्णन में कोई विशेषता नहीं। परंपरानुसार अनेक वृक्षों के नाम दिये गये हैं। कोयल का कूकना, भौरों का गूँजना आदि का कवि ने वर्णन किया है। पद्मश्री और समुद्रदत्त के विवाहानन्तर कवि संध्या और चन्द्रोदय का वर्णन करता है।⁵⁰

इन वर्णनों में प्रकृति बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव से भी अंकित की गयी है। उधर पद्मश्री का हृदय अनुरागपूर्ण और पतिमिलन के लिए उत्सुक है, उधर गुरु रागरंजित संध्यावधू उत्कंठित है। इन वर्णनों में कवि की कल्पना कहीं-कहीं अनूठी और अद्भुत है। संध्या समय कमल बंद होने को है, उनमें से भौर निकल-निकल कर उड़ रहे हैं। कवि कहता है मानो कमलिनी काजलयुक्त अश्रुओं से रो रही है।⁵¹ प्रकृति वर्णन में एक हल्की-सी उपदेश भावना भी मिलती है। सूर्योदय का वर्णन करता हुआ कवि कहता है —

परिगलय रयणि उरगमिउ भाणु उज्जोइउ मज्जिम भुयण भाणु ।

विच्छाय कति ससि अत्यमेइ सकलकह कि थिरु उदउ होइ ।

मउलति कुमुय महुर मुयति थिर नेह मलिण कि कह वि हति ।⁵²

रात बीत गयी सूर्य उदित हुआ । - - - मंद कातिवाला चन्द्रमा अस्त हो रहा है । कलकित का उदय क्या स्थिर रह सकता है ? कुमुद मुकुलित हो रहे हैं । मधुकर उन्हें छोड़ कर उड़ रहे हैं - क्या मलिन काले कहीं स्थिर प्रेमी होते हैं !

पद्मकीर्ति रचित 'पासचरिउ'⁵³ के छठी सन्धि में ग्रीष्मकाल और उस काल में जल-क्रीड़ा (6.11), वर्षाकाल (6.12), हेमंतकाल (6.13) आदि के वर्णन सुन्दर हैं । दसवीं संधि में सूर्यास्त (10.9), रजनी (10.10), चन्द्रोदय (10.11) आदि के वर्णन चित्ताकर्षक बन पड़े हैं ।

अद्दहमाण - अब्दुल रहमान कृत 'संदेश रासक'⁵⁴ में कवि ने विरह वर्णन के प्रसंग में ही षड्-ऋतु वर्णन प्रस्तुत किया है । विरहिणी को विरहताप के कारण ये सब ऋतुएँ दुःखदायिनी और अरुचिकर प्रतीत होती हैं । ग्रीष्म ऋतु में ताप को कम करने के लिए प्रयुक्त चन्दन, कपूर, कमल आदि साधन उसके ताप को और बढ़ाते हैं। वर्षा ऋतु में जल-प्रवाह से सर्वत्र ग्रीष्म का ताप कम हो गया, किन्तु आश्चर्य है कि विरहिणी के हृदय का ताप और भी अधिक बढ़ गया—

उल्हवियं गिम्हहवी धाराणिवहेण पाउसे पत्ते ।

अच्चरियं मह हियए विरहगगी तवइ अहिअयरं ॥⁵⁵

शरद ऋतु में नदियों की धारा के साथ-साथ विरहिणी भी क्षीण हो गयी —

झिज्जउँ पहिय जलिहि झिज्जतिहि,

खिज्जउँ खज्जोयहिं खज्जतिहि ।

सारसरसु रसहिं कि सारसि ।

मह चिर जिण्ण दुक्खु कि सारसि ॥⁵⁶

कार्तिक में दिवाली आयी । लोगों ने घर सजाये, दीपक जलाये, किन्तु विरहिणी का हृदय उसी प्रकार दुःखी है । शरद का सारा सौन्दर्य उसके प्रीतम को घर न ला सका । वह आश्चर्यचकित हो कहती है —

कि तहि देसि णह फुरइ जुन्ह णिसि णिम्मल चंदह,

अह कलरउ न कुणति हंस फल सेवि रविदह ।

अह पायउ णह पढइ कोइ सुललिय पुण राइण,

अह पंचमु णह कुणइ कोइ कावालिय भाइण ।

महमहइ अहव पच्चूसि णह ओससितु घण कुसुमभरु,

अह मुणिउ पहिय ! अणरसिउ पिउ सरइ समइ जु न सरइ घरु ।⁵⁷

क्या उस देश में रात्रि में निर्मल चन्द्रमा की ज्योत्स्ना नहीं स्फुरित होती या कमल के फलों (कमल गट्टा) का सेवन करके हंस कलरव नहीं करते या कोई राग से सुललित प्राकृत नहीं पढ़ता या कोई उस कापालिक के सामने भावपूर्वक पंचम राग नहीं छेड़ता या प्रत्यूष बेला में ओससित्त घनकुसुमभार महकता नहीं या पथिक ! मैं यह मान लूँ कि प्रिय अरसिक हो गया है, जो वह शरद काल में भी घर का स्मरण नहीं करता है ।

शरद के अनन्तर हेमन्त ऋतु आती है । चारों ओर शीत के प्रभाव से कोहरा और पाला दिखायी देता है, किन्तु —

जलिउ पहिय ! सव्वंगु विरहहवि तडयडवि, सरपमुक्क कंदप्प दप्पि धणु कडयडवि ।

त सिज्जहि दुक्खत्त ण आयउ चित्तहरु, पर मंडलु हिउंतु कवालिय खलु सबरु ॥⁵⁸

विरहिणी का सर्वांग विरहाग्नि से 'तड़-तड़' करके जल उठा । कंदर्प दर्पपूर्वक धनुष कड़-कड़ाकर बाण छोड़ने लगा । फिर भी वियोगिनी की शय्या के निकट वह चित्तहर नहीं आया । परदेश में ही वह कापालिक खल-शबर घूमता रहा ।

इसी प्रकार हेमन्त ऋतु आयी और चली गयी, किन्तु प्रियतम घर न आया । हेमन्त के अनन्तर वसंत अपनी पूर्ण सम्पत्ति के साथ विकसित हो उठा । वसंत के उल्लास, उसकी पुष्प-समृद्धि, वर्ण-सौन्दर्य आदि का कवि ने सुन्दर वर्णन प्रस्तुत किया है ।⁵⁹

'सन्देश रासक' का ऋतु-वर्णन स्वाभाविक है, जो कवि की निरीक्षण शक्ति का परिचायक है। प्रत्येक ऋतु में प्राप्य और दृश्यमान वस्तुओं का वर्णन मिलता है । इस प्रसंग में ग्राम्य जीवन का चित्र भी स्थान-स्थान पर कवि ने अंकित किया है । वर्षा ऋतु में पथिक हाथ में जूते उठाकर जल पार करता है —

गिभ तविण खर ताविय बहु किरणुक्करिहैं,
पउ पडंतु पुक्खरहु ण भावइ पुक्खरिहैं ।
पयहत्थिण किय पहिय पहिहि पवहत्थियहि,
पइ पइ पेसइ करलउ गयणि खिवंतयहि ॥⁶⁰

दीपावली के अवसर पर आँखों में काजल डाले और गाढ़े रंग के वस्त्र पहने ग्राम्य नारियों का भी कवि ने वर्णन किया है —

दितिय णिसि दीवालिय दीवय,
णवससिरेह सरिस करि लीअय,
मंडहि भुवण तरुण जोइक्खहिं,
महिलिय दिति सलाइय आक्खहिं ।
कसिणवरिहैं विहाविह भंगिहैं,
कडिदय कुडिल अणेगतरंगिहैं ।
मियणाहिण मयवट्ट मणोहर,
चच्चिय चक्कावट्ट पयोहर ॥⁶¹

शिशिर में थोड़ा-सा औटाकर सुगन्धित ईस्र का रस पीते हुए लोग भी दिखायी देते हैं—

मज्जमुक्क सठविउ विवह गंधक्करसु,
पिज्जइअढ्ढावट्टउ रसियहि इक्खरसु ।
कुंदचउत्थि वरत्थणि पीणुन्नयथणिय,
णियसत्थरि पलुटंति केवि सीमतिणिय ॥⁶²

इस प्रकार यह ऋतु-वर्णन उद्दीपन रूप में होते हुए भी स्वाभाविक और आकर्षक है । वर्णन में हृदय की आभ्यन्तर स्थिति का बाह्य प्रकृति में कहीं-कहीं दर्शन हो जाता है । जायसी की मौति अद्दुहमाण के सादृश्यमूलक अलंकार, और बाह्यवस्तु-निरूपक वर्णन बाह्यवस्तु की ओर पाठक का ध्यान न ले जाकर विरह-कातर व्यक्ति के मर्मस्थल की पीड़ा को अधिक व्यक्त करते हैं । कवि प्राकृतिक दृश्यों का चित्र इस कुशलता से अंकित करता है कि इससे विरहिणी के विरहाकुल

हृदय की मर्मवेदना ही मुखरित होती है । वर्णन चाहे जिस दृश्य का हो, व्यंजना हृदय की कोमलता और मर्मवेदना की ही होती है ।⁶³

इस प्रकार कहा जा सकता है कि अपभ्रंश काव्य में प्रकृति-चित्रण आलंबन और उद्दीपन दोनों ही रूपों में हुआ है । महाकाव्यों में स्वतंत्र प्रकृति-वर्णन मिलता है । खण्ड-काव्यों में यत्र-तत्र । शृंगारी काव्यों में षड्भूत-वर्णन जैसी परंपरा के कारण कवियों को प्रकृति की ओर झौंकने का विशेष अवसर मिल जाता है । षड्भूत का वर्णन काव्य में संयोगसुख या विरहदुःख को तीव्रतर दिखाने के लिए किया गया है ।

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, चिन्तामणि, प्रथम भाग, पृ. सं. 21 ।
2. लंका तोरणमालि आतरलिणो कुंभुभवस्सागमे,
मंदा दोलिअचंदणदुमलदाकप्पूर संपक्किणो ।
कंकोलीकुलकंपिणो फणिलदाणिप्पंद णेहावआ,
चंड चुबिद तं बपणिसलिला वाअति चेतानिला ॥ — राजशेखर, कर्पूरमंजरी, 1/7
3. स्वयंभूदेव, पउमचरिउ, 28.2 ।
4. वही, 28.3 ।
5. वही 1.4 ।
6. वही, 69.2 ।
7. वही, 69.3 ।
8. वही, 31.3 ।
9. वही, 36.1 ।
10. वही, 14.3 ।
11. पुष्पदन्त, महापुराण या तिसट्ठिमहापुररिसगुणालंकार, भाग, 1-3, सं. डॉ. पी. एल. वैद्य ।
12. वही, 4.18, 19, 16, 26 ।
13. वही, 4.16, 16.24 ।
14. वही, 4.15, 13.8 ।
15. वही, 73.2 ।
16. वही, 12, 5-8 ।
17. वही, 2.13, 28.13, 70.14-15 ।
18. वही, 83.10 ।
19. वही, 39.12-13 ।
20. वही, 73.2 ।
21. वही, 28. 34.1-7 ।
22. वही, 12.5, 29.30, 12.6, 12.7 ।
23. वही, 2.13 ।
24. वही, 28.13, 10-11 ।
25. वही, 5.3. 12-14 ।
26. धनपाल धक्कड़, भविसयत्तकहा, सं., श्री दलाल और गुणे, गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज, ग्रंथंक20 ।

27. डॉ. हरिवंश कोछड़, अपभ्रंश साहित्य, पृ. सं. 106 ।
28. वही, पृ. सं. 118 ।
29. पुष्पदंत, गायकुमारचरित, सं. प्रो. हीरालाल जैन, बलात्कारगण जैन पब्लिकेशन सोसाइटी कारंजा, बरार ।
30. वही, 8.9. 1-4 ।
31. पुष्पदंत, जसहरचरित, सं. डॉ. परशुराम लक्ष्मण वैद्य, कारंजा जैन पब्लिकेशन सोसाइटी, कारंजा, बरार ।
32. वही, पृ. सं. 16-17 ।
33. वही, 2.12, 3-7 ।
34. वही, 3.1 ।
35. वही, 1.12 ।
36. वही, पृ. सं. 25 ।
37. डॉ. हरिवंश कोछड़, अपभ्रंश साहित्य, पृ. सं. 147 ।
38. वही, पृ. सं. 155 ।
39. वही, पृ. सं. 154-155 ।
40. वही, पृ. सं. 157 ।
41. वही, पृ. सं. 164 ।
42. वही, पृ. सं. 164-165 ।
43. वही, पृ. सं. 165 ।
44. मुनि कनकामर, करकंडचरित, सं. प्रो. हीरालाल जैन, कारंजा जैन ग्रंथमाला, बरार ।
45. वही, 3.12, 5-10 ।
46. वही, 4.7, 3-8 ।
47. दिव्यदृष्टि घाहिल, पउमसिरीचरित, सं. श्री मधुसूदन मोदी तथा श्री हरिवल्लभ भायाणी, भारतीय विद्याभवन, बम्बई ।
48. वही, 2.4 ।
49. वही, 2.5 ।
50. वही, 3.1 ।
51. वही, 3.1.6 ।
52. वही, 3.2 ।
53. डॉ. हरिवंश कोछड़, अपभ्रंश साहित्य, पृ. सं. 207 ।
54. अद्दहमाण-अब्दुल रहमान, सदेश रासक, सं आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, विश्वनाथ त्रिपाठी, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., नई दिल्ली ।
55. वही, 3.149 ।
56. वही, 3.165 ।
57. वही, 3.183 ।
58. वही, 3.185 ।
59. वही, 3.200-221 ।
60. वही, 3.141 ।
61. वही, 3.176-177 ।
62. वही, 3.195 ।
63. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ. सं. 84 ।

अपभ्रंश के कतिपय काव्यरूप और उनका हिन्दी पर प्रभाव

• डॉ. महेन्द्रसागर प्रचंडिया

मनुष्य भाव-प्रधान प्राणी है । भावाभिव्यक्ति करना उसकी स्वयंजात शक्ति है । साहित्यिक भाषा में उसकी आदिम अभिव्यक्ति प्राकृत और संस्कृत साहित्य में सुरक्षित है । प्राकृत और संस्कृत के बीच की कड़ी का नाम है - अपभ्रंश । अपभ्रंश का जन्म-स्थान है - लोक । अपभ्रंश की भावसम्पदा लौकिक, उसके काव्यरूप और छंद भी लोकाश्रित रहे हैं । कल्याणकारी बातों के अतिरिक्त जन-मानस को जागतिक और आध्यात्मिक आनन्द से आप्लावित करनेवाले नाना संदर्भों और प्रसंगों की अभिव्यक्ति अपभ्रंश भाषा में हुई है ।

अपभ्रंश वाङ्मय का भाव और रूप लोक-मानस की अक्षय निधि है । हिन्दी को जन्म देकर अपभ्रंश अपनी साहित्यिक धरोहर को विरासत में सौंपती है । इस प्रकार मानवी भावाभिव्यंजना की सुदीर्घ परम्परा अपभ्रंश से होकर हिन्दी साहित्य-धारा में समाहित हुई है । अपभ्रंश की रूप-राशि में काव्यरूप का स्थान महत्त्वपूर्ण है । यहाँ उसके कतिपय काव्यरूपों के मौलिक स्वरूप की चर्चा करना तथा उनका हिन्दी पर प्रभाव-विषयक चर्चा करना हमारा मूल अभिप्रेत रहा है ।

अपभ्रंश वाङ्मय की अभिव्यक्ति शताधिक काव्यरूपों में हुई है । उन सभी काव्यरूपों में कतिपय ऐसे काव्यरूप भी हैं जो अपभ्रंश की सुदीर्घ परम्परा में आदि से अन्त तक चिरंजीवी रहे हैं । साथ ही ऐसे अनेक काव्यरूप अपभ्रंश की कोख से जन्मी हिन्दी काव्यधारा को निरन्तर प्रवहमान करते हैं ।

काव्यशास्त्रीय निकष पर काव्याभिव्यक्ति जिन काव्यरूपों में हुई है उन्हें दो मुख्य रूपों में विभक्त किया गया है। प्रथम रूप है प्रबन्ध और द्वितीय रूप मुक्तक है। अपभ्रंश की प्रबन्धात्मक काव्याभिव्यक्ति पुराण, चरित तथा खण्डकाव्यों में प्रभूत परिमाण में हुई है।

अपभ्रंश का परम पुष्ट काव्यरूप है — पुराण। पुराण काव्य की एक सुदीर्घ परम्परा अपभ्रंश साहित्य में रही है जिसमें त्रैसठ शलाका पुरुषों के जीवन-चरित्र वस्तुतः रचे गए हैं। चौबीस तीर्थकर - ऋषभदेव से लेकर महावीरपर्यन्त, द्वादश चक्रवर्ती - भरत से लेकर ब्रह्मदत्त-पर्यन्त, नव वासुदेव - त्रिपुष्ट से लेकर कृष्णपर्यन्त, नव बलदेव - विजय से लेकर राम-बलराम-पर्यन्त तथा नव प्रतिवासुदेव - सुग्रीव से लेकर जरासंधपर्यन्त मिलकर त्रैसठ शलाका पुरुष के रूप को स्वरूप प्रदान करते हैं। जैनाचार्यों ने इस भाव-सम्पदा का मूल स्रोत प्रथमानुयोग में माना है। महाकवि स्वयम्भू और महाकवि पुष्पदन्त के विशाल काव्य इसी काव्यरूप में रचे गए हैं।

हिन्दी में यह काव्यरूप अपने मौलिक रूप-पुराण में अवतरित हुआ है। हिन्दी के मध्यकाल के महाकवि भूधरदास द्वारा प्रणीत 'पार्श्वपुराण' नामक महाकाव्य वस्तुतः उल्लेखनीय है। इसी परम्परा में कविवर भागचन्द्र द्वारा रचित नेमिनाथपुराण, सुशालचन्द्र काला द्वारा प्रणीत हरिवंशपुराण एवं पद्मपुराण इस काव्यरूप की परम्परा को गति प्रदान करते हैं।

पुराणों की भाँति प्रबन्धात्मक काव्यरूप है - कहा। यह काव्यरूप निश्चितरूप से महाकाव्य की कोटि में रखा जा सकता है। 'हिन्दी महाकाव्य का स्वरूप तथा विकास' नामक स्वरचित ग्रंथ में डॉ. शम्भूनाथ सिंह स्वीकारते हैं कि कहा अथवा कथा काव्यरूप में प्रायः सभी काव्योपम गुण मिलते हैं। अपभ्रंश काव्य में 'सुयशपंचमीकहा' जैसे अनेक काव्य रचे गए हैं। महाकवि धनपाल द्वारा रचित भविसयत्तकहा, कविवर लाखू द्वारा प्रणीत चन्दणछट्टीकहा तथा जिणयत्तकहा, उदयचन्द्र रचित सुअंधदहमीकहा, बालचंद द्वारा प्रणीत णिदुक्खसत्तमीकहा अर्थात् निर्दुःखसप्तमी व्रतकथा तथा नरक उतारी दुग्धारसी कथा, महाकवि रङ्गू के पुण्याश्रव कहा तथा अणयमिउ कहा, कविवर विमल-कीर्ति प्रणीत सोखवइविहाण कहा, भट्टारक गुणभद्र द्वारा रचित सयणवार सिविहाण कहा, पक्खवइवय कहा, आयासपंचमी कहा, चंदायणवयकहा, चंदणछट्टीकहा, नरक-उतारी दुग्धारस कहा, णिदुक्खसत्तमी कहा, मउडसत्तमी कहा, पुप्फजली कहा, रयणत्तयवय कहा, दहलक्खणवय कहा, अणंतवय कहा लद्धिविहाण कहा, सोलहकारणवय कहा तथा सुगंध दहमी कहा, हरिचन्द्र रचित अणत्थमिय कहा, तथा माणिकचन्द द्वारा प्रणीत सत्तवसण कहा आदि अनेक कहा काव्यरूप में रचित काव्य उपलब्ध हैं।

'कहा' अथवा कथा काव्यरूप हिन्दी में अपभ्रंश से ही गृहीत किया गया। हिन्दी में कविवर किशनसिंह द्वारा रात्रिभोजनत्यागव्रत कहा, कविवर भाऊ रचित रविव्रत कथा, सुशालचन्द्र काला द्वारा प्रणीत व्रतकहाकोश उल्लेखनीय है। इसी प्रकार कविवर जोधराज गोदीका द्वारा 'कहाकोश' द्रष्टव्य है।

अपभ्रंश भाषा का अन्यतम सशक्त काव्यरूप है — रास। आरम्भ में 'रास' एक सामूहिक गीत नृत्य रहा होगा किन्तु कालान्तर में वह गेय रूपक के रूप में विकसित हुआ और तब से प्रबन्धशैली के रूप में रास रचा गया। अपभ्रंश भाषा और साहित्य में डॉ. देवेन्द्रकुमार जैन की मान्यता है कि रास जब लोक-परम्परा का प्रतिनिधित्व करता है तब उसका नाट्यरूप मुखर हो उठता है और जब वह साहित्यिक परम्परा में व्यवहृत होता है तब उसका रूप प्रबन्धात्मक हो जाता है।

प्राप्त रासकाव्यों के आधार पर यह सहज में कहा जा सकता है कि इस काव्यरूप का प्रयोग प्रबन्ध और खण्डकाव्यों के रूप में हुआ है । ऐसी स्थिति में रासकाव्य की समानता 'चरिउ' काव्यरूप के साथ सहज में की जा सकती है । रासकाव्यों का पहले प्रणयन अपभ्रंश और गुर्जर मिश्रित राजस्थानी भाषा में हुआ था । इस काव्यरूप के प्रवर्तन का श्रेय जैनाचार्यों को रहा है । डॉ. अम्बादत्त पन्त स्वरचित 'अपभ्रंश काव्य-परम्परा और विद्यापति' ग्रंथ में 'उपदेश रसायन रास' को प्रमुख रचना मानते हैं । इस रास के रचयिता हैं - जिनदत्त सुरि ।

अपभ्रंश भाषा में रासकाव्य रचने की एक सुदीर्घ परम्परा रही है । कविवर विनयचन्द्र कृत चूनड़ीरास, भगवतीदास रचित ढाढाणारास, आदित्यरास, पखवाड़ारास, दशलक्षणरास, समाधिरास, जोगीरास, मनकरहारास, रोहिणीव्रतरास, कवि योगदेवकृत बारस अणुवेक्खारास, जिनहर्षकृत उत्तमकुमाररास, सूरविनयकृत रत्नपाल-रत्नावलीरास, जयविमलकृत जम्बूस्वामीरास तथा ऋषभदास विरचित हरिसूरिरास उल्लेखनीय अपभ्रंशरासकाव्य हैं ।

हिन्दी में रास काव्यरूप रासक, रासो के रूप में व्यवहृत हुआ है । नाट्य-लोक में नृत्य और संगीत की प्रमुखता के कारण शृंगारप्रधान धारा लोकप्रसिद्ध और प्रचलित हो गयी । 'हिन्दी साहित्य कोश' प्रथम भाग में डॉ. धीरेन्द्र वर्मा ने पृष्ठ 713 पर स्पष्ट किया कि सोलहवीं शताब्दी में बल्लभाचार्य तथा हितहरिवंश ने इसी काव्यरूप में धर्म के अंग के साथ नृत्य की पुनः स्थापना की । इस प्रकार रास नामक काव्यरूप फिर नाट्यरूप पा गया ।

हिन्दी में इस लोकप्रिय रासकाव्य को अपनाकर आश्रयदाताओं से सम्बन्धित अनेक रासकाव्यों की सर्जना की गई है । पृथ्वीराजरासो, सुमाणरासो आदि । खण्डकाव्य की श्रेणी में बीसलदेवरासो वस्तुतः उल्लेखनीय काव्य है । अपभ्रंश के उत्तरार्ध और हिन्दी के आदिकाल में जैनेतर कविर्मनीषी अब्दुलरहमान प्रणीत रासकाव्यरूप में 'सन्देश रासक' नामक कृति का महत्त्वपूर्ण स्थान है । अपभ्रंश का रासकाव्यरूप हिन्दी के जैन कवियों द्वारा आरम्भ से ही व्यवहृत हुआ है ।

अपभ्रंश की प्रबन्धात्मक काव्याभिव्यक्ति के लिए 'चरिउ' नामक काव्यरूप का प्रयोग प्रचुर परिमाण में हुआ है । चरितकाव्य की कुछ निजी विशेषताएँ हैं जिनके कारण वह पुराण, इतिहास और कथा से भिन्न तथा एक विशेष प्रकार का प्रबन्ध काव्य माना जाता है । संस्कृत में चार शैलियों के प्रबन्ध काव्य मिलते हैं— 1. शास्त्रीय शैली 2. ऐतिहासिक शैली 3. पौराणिक शैली और 4. रोमांसिक शैली । इनमें से प्रथम के अतिरिक्त शेष तीन शैलियों में चरित काव्य होते हैं । अपभ्रंश में पौराणिक और रोमांसिक इन दो ही शैलियों के प्रबन्ध काव्य मिलते हैं और वे सभी चरित काव्य हैं ।

पउमचरिउ की भूमिका में श्री हरिबल्लभ भयाणी अपनी मान्यता इस प्रकार व्यक्त करते हैं कि — स्वरूप की दृष्टि से अपभ्रंश के पौराणिक काव्यों और चरित काव्यों में बहुत अन्तर नहीं है । पौराणिक काव्यों में विषय का विस्तार बहुत अधिक होने से सधि अर्थात् सर्ग संख्या पचास से सवा सौ तक होती है, किन्तु चरित काव्यों में विषय-विस्तार मर्यादित होता है जिससे सर्ग या सधि संख्या अधिक नहीं होती । शेष बातों जैसे सधि, कड़वक, तुक, पक्ति-युगल आदि में दोनों में कोई भेद नहीं होता ।

अपभ्रंश में चरिउ काव्य की एक सुदीर्घ परम्परा रही है । स्वयम्भूकृत पउमचरिउ, रिटुणेमिचरिउ, सोद्वयचरिउ तथा पंचमिचरिउ, पुष्पदन्त विरचित णायकुमारचरिउ और जसहरचरिउ, वीरकवि का जंबूस्वामिचरिउ, श्रीधर प्रणीत पासनाहचरिउ तथा वड्डमाणचरिउ, देवसेन प्रणीत

सुलोयणाचरिउ, अमरकीर्तिगणि के गेमिनाहचरिउ, महावीरचरिउ एवं जसहरचरिउ, मुनि कनकामर का करकंडचरिउ, महाकवि सिंह का पज्जण तथा महाकवि रङ्घुकृत मेहेसरचरिउ, गेमिणाहचरिउ, पासणाहचरिउ, सम्मइजिणचरिउ, तिसट्टि महापुरिसचरिउ, जसहरचरिउ, सुदंसणचरिउ तथा सुक्कोसलचरिउ अधिक उल्लेखनीय कृतियाँ हैं ।

हिन्दी में चरिउ या चरित काव्यरूप का अवतरण आरम्भ से ही हुआ । डॉ. शम्भूनाथसिंह के अनुसार हिन्दी में चरिउ चरित संज्ञा में छः प्रकार से प्राप्त होते हैं - धार्मिक, प्रतीकात्मक, वीरगाथात्मक, प्रेमाख्यानक, प्रशस्तिमूलक तथा लोकगाथात्मक । धार्मिक चरित काव्यों में रामचरित-मानस तथा दशावतार, प्रतीकात्मक चरित काव्यों में पद्मावत, मृगावती तथा मधुमालती, वीर गाथात्मक चरित काव्यों में पृथ्वीराजरसो, हम्मीररसो आदि, प्रेमाख्यानक चरित काव्यों में बीसलदेवरास, छिताईवार्ता तथा नलदमन आदि, प्रशस्तिमूलक चरित काव्यों में वीरसिंह देवचरित तथा छत्रप्रकाश आदि तथा लोकगाथात्मक चरित काव्यों में ढोलामारू रा दूहा और आल्ह खण्ड आदि उल्लेखनीय हिन्दी चरिउ या चरित काव्य हैं ।

अपभ्रंश का चरितप्रधान काव्यरूप है - फागु । यह काव्यरूप हर्षोल्लास एवं नृत्य-प्रधान प्रसंगों में व्यवहृत होता है । फागु वस्तुतः वह गेय रूपक है जो मधु-महोत्सव में गाया और खेला जाता है । 'अपभ्रंश काव्य-परम्परा और विद्यापति' नामक स्वकृति में डॉ. अंबादत्त पन्त लिखते हैं कि अपभ्रंश के जिनपद्यसूरि द्वारा प्रणीत सिरिथूलिभट्टफागु फागुकाव्य परम्परा का प्रवर्तन करता है ।

अपभ्रंश के जिनप्रबोधसूरि द्वारा प्रणीत जिनचन्द्रसूरिफागु, समधरकृत नेमिनाथफागु, राजशेखरकृत नेमिनाथफागु, राजवल्लभ का थूलभट्टफागु आदि उल्लेखनीय काव्य हैं ।

हिन्दी साहित्य में उस काव्यरूप का प्रयोग फाग, फगुआ और बसन्त नामक संज्ञाओं में हुआ है । कबीर ने फगुआ काव्यरूप को अपनाकर हिन्दी फागुकाव्यरूप के द्वार खोले हैं । फागु की यह परम्परा अठारहवीं शती तक जैन हिन्दी कवियों द्वारा प्रवहमान रही है ।

अपभ्रंश वाङ्मय की अभिव्यक्ति नाना काव्यरूपों में हुई है । बारहमासा काव्यरूप ऐसे विरल काव्यरूपों में से एक है जिनका न केवल जन्म अपभ्रंश में हुआ अपितु अपभ्रंश ने बारहमासा काव्य- परम्परा को निर्बाध रूप से प्रवहमान रखा है । यहाँ यह काव्यरूप बारहनाउ के रूप में भी उपलब्ध है ।

अपभ्रंश में बारहमासा काव्यरूप आदर्श पुरुषों के वैराग्यमूलक सन्दर्भों, आत्मिक गुणों तथा वंदनात्मक प्रयोजन के लिए व्यवहृत हुआ है । बारहमासा में बारहमहीने की प्रकृति का उल्लेखकर कवि अपने मनोरथ की अभिव्यक्ति करता है । जीवात्मा और परमात्मा के वियोग में यह जीव जागतिक जीवन वर्ष के विविध महीनों की प्रकृति को पाकर सुख-दुःख भोगता है। अतिरिक्त मास के आगमन पर वह अपने प्रिय से मिलता है । आध्यात्मिक प्रसंग में यह मिलन शिवपुर अर्थात् मोक्ष प्राप्ति में होता है ।

अपभ्रंश के 12-13वीं शती के जैनाचार्य श्री विनयचन्द्रसूरिकृत नेमिनाथ चतुष्पदिका नामक बारहमासा अभी तक प्राप्त सभी बारहमासों में प्राचीन विदित होता है । यह काव्य चौपई छंद में रचा है अतः इसे चतुष्पदिका की संज्ञा प्राप्त है, पर यह काव्य है बारहमासा ही जो श्रावण मास से प्रारम्भ होता है । इसके नायक नेमि-राजुल हैं । वैवाहिक अनुष्ठान से पूर्व पशुओं की चीत्कार उन्हें वैराग्य के लिए प्रेरित करती है फलस्वरूप आत्मध्यान हेतु नायक गिरिगामी हो जाता

है । प्रत्येक महीने की प्रकृति का बोध कराती हुई ध्यान भंग होने की आशंका नायिका व्यक्त करती है । व्रती नायक को अपने निश्चय से च्युत करने में असमर्थ नायिका राजमती अन्ततः स्वयं वैराग्य धारण करती है ।

नेमिचतुष्पदिका के इस कथ्य का आदर्श मानकर अनेक बारहमासे रचे गए । इस दृष्टि से जिनधर्म सूरि का 'बारहनावउँ' उल्लेखनीय प्राचीन कृति है । इसी परम्परा में पाल्हणकृत बारहमासा तथा जिनहर्ष का बारहमासा उल्लेखनीय है ।

हिन्दी में बारहमासा आरम्भ से ही गृहीत हुआ है । 'हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग' नामक स्वकृति में डॉ. नामवरसिंह बारहमासा को हिन्दी की अपनी विशेषता स्वीकारते हैं परन्तु यह मान्यता ऐतिहासिक दृष्टि से सत्य और प्रामाणिक नहीं है । हिन्दी में यह काव्यरूप अपभ्रंश से अवतरित हुआ है । यहाँ यह काव्यरूप जैन-जैनेतर कवियों द्वारा प्रभूत परिमाण में रचा गया है ।

हिन्दी में बारहमासा प्रत्येक शताब्दि में रचा गया है । पृथ्वीराजरासो में यह काव्यरूप अन्तर्भुक्त रूप में प्रयुक्त है । कबीरदास, नरपतिनाल्ह, गुरु नानक, केशवदास, जायसी, सेनापति, कुतबन मंझन, साधन, नन्ददास, मीराबाई, बरकतुल्ला, चाचा वृन्दावनदास आदि हिन्दी कवियों द्वारा यह काव्यरूप व्यवहृत हुआ है । हिन्दी जैन कवियों द्वारा तो यह काव्यरूप सैकड़ों की संख्या में रचित है । उन्नीसवीं शती के पश्चात् यह काव्य-धारा लोक-साहित्य में प्रवेश कर जाती है ।

उपर्युक्त विवेचन से यह सहज में प्रमाणित हो जाता है कि काव्य के अनेक अंगों की भौति काव्यरूप की दृष्टि से भी हिन्दी अपभ्रंश से प्रभावित है । पुराण, कथा, रास, चरिज, फागु तथा बारहमासा ऐसे कतिपय काव्यरूप हैं जिनका जन्म अपभ्रंश की कोख से हुआ उनका पल्लवन और पोषण भी । ये सभी काव्यरूप अपभ्रंश से हिन्दी को प्राप्त होकर निरन्तर चिरंजीवी रहे हैं ।

मुक्कु गिंभणामै सरो

णिसियरु रोसवसु सरु सिसिरु सचावि णिवेसइ ।
 दोहगगयचिनु जिह दीहरु सहसा सपेसइ ॥
 × × ×
 हिमकणमिसेण णवर परिपडुरु सउरिसजसु व धावए ।
 अहिणवपणउ जेम विपरंतउ तणुरोमंचु दावए ॥
 सिसिरवाणप्पहारेण ओणल्लिया, वितरी बोल्लिया ।
 × × ×
 इय पयपेइ तो गिंभ णामै सरो, मुक्कु भाभासुरो ।
 तप्पहावेण धगधगइ धूलीसरं, भमइ रइडंबरं ।
 लुलइ किडि कइमे सुसइ पल्ललजलं, जलइ दावाणलं ।
 दुसहजलतिसए फुट्टेइ जीहादलं, सरइ जणु तरुतलं ।

सुदसणचरिउ

11.20, 21

— (निशाचर एवं व्यंतरी में परस्पर युद्ध हो रहा है) तब निशाचर ने रोष के वशीभूत अपने धनुष पर दीर्घ शिशिर बाण रखा (और) उसे सहसा छोड़ दिया, जिस प्रकार कोई दुखी चित होकर अपने सिर को हाथ पर रखे और दीर्घ ठण्डा स्वर छोड़ता है ।

×

×

×

वह अति श्वेत बाण ऐसे दौड़ा जैसे मानो हिमकणों के बहाने से किसी सत्पुरुष का अति उज्ज्वल यश प्रसार कर रहा हो । उसने ऐसा रोमांच प्रकट किया मानो वह अभिनव प्रणय कर रहा हो। (उस) शिशिरबाण के प्रहार से आहत व्यंतरी बोली ।

×

×

×

ऐसा कहते ही व्यंतरी ने अभी प्रभा से चमकता हुआ ग्रीष्म नामक बाण छोड़ा । उसके प्रभाव से धूलि-प्रवाह धगधगाने लगा । रज का बवंडर घूमने लगा । कीचड़ में शूकर लोटने लगा । कुडी का जल सूखने लगा और दावानल जलने लगा । जल की दुसह्य प्यास से जिह्वादल फूटने लगा और लोग तरुतल की शरण लेने लगे ।

अनु., डॉ. हीरालाल जैन

अपभ्रंश के कुछ प्राङ्मध्यकालीन खण्डकाव्य

• डॉ. सियाराम तिवारी

•

सामान्यतः 1400 ई. से 1850 ई. तक का काल हिन्दी-साहित्य के इतिहास में मध्यकाल माना जाता है । इस युग में प्रचुर खण्डकाव्यों की रचना हुई । किन्तु इसके पहले भी कुछ अच्छे खण्डकाव्य लिखे गये हैं जिनका विवेचन इस लेख का उद्देश्य है ।

सन्देश रासक — इस युग का पहला खण्डकाव्य अब्दुलरहमान का 'सन्देश रासक' उल्लेखनीय है । यह परवर्ती अपभ्रंश में लिखा गया है । इसका रचना-काल बारहवीं शती ईस्वी के आसपास माना जाता है। यह बिल्कुल संस्कृत दूतकाव्यों की परम्परा में है । यह तीन प्रक्रमों में विभाजित दो सौ तेईस छंदों का एक सुन्दर खण्डकाव्य है । इसमें कुल बाईस प्रकार के छंद व्यवहृत हुए हैं — रासा, चउपइय, लंकोडय, अडिल्ला, मडिल्ला, पडडिया, कव्व अथवा वत्थु, कामिणीमोहण, दुबई, खणिज्ज, गाहा, दोहा, चूडिल्लय, फुल्लय, डोमिलय, खरड्डा, छप्पय, खडहडय, खधय, मालिनी, नदिणी और भमरावली । इसके आदि और अंत में आशीष है । इस काव्य की विशेषता यह है कि इसके छंद एक ओर तो मुक्तक के गुणों से युक्त हैं और दूसरी ओर वे कथा-सूत्र में भी ग्रथित हैं। इस तरह वामन ने जो यह कहा है कि पहले मुक्तक की सिद्धि हो लेती है, उसके बाद प्रबंध की सिद्धि होती है, वह 'सन्देश रासक' के लिए पूर्णतः लागू है । अतः गीतात्मक कलेवर में यह एक सुन्दर खण्डकाव्य है ।

इसमें एक प्रोषितपतिका का विरह-निवेदन और अंत में उसका संयोग वर्णित है । इस तरह इसे संयोगात विरह-काव्य कहा जा सकता है । यह नायिका-प्रधान रचना है, क्योंकि इसमें उसीके

मनोभावों की अभिव्यक्ति है । अंत में नायक के आगमन की सूचना है, पर कवि नायक-नायिका का मिलन सघटित करने के लिए रुका नहीं है और उसने कथा का द्वार बंद कर लिया है । विजयनगर की एक विरहिणी जिसका पति स्तम्भतीर्थ चला गया था, वियोगानल में जलती हुई अपना समय बिता रही थी । एक दिन स्तम्भतीर्थ जाते हुए एक पथिक को रोक कर उसने गंतव्य और आगमन स्थान पूछा । जब उसने यह जाना कि सामोर से आनेवाला यह पथिक उसी स्तम्भतीर्थ को जा रहा है जहाँ उसका पति गया हुआ है, तो उसकी विह्वलता अचानक बढ़ गयी, उसने पथिक से निवेदन किया कि मेरा पति भी मुझे छोड़कर वहीं चला गया है, इसलिए मेरा सन्देश लेते जाओ । उसकी करुणा-विगलित वाणी सुनकर पथिक रुक गया और वियोगिनी अपनी व्यथा की परतें खोल-खोलकर रखने लगी । पथिक बीच-बीच में अपनी ऊब प्रकट करता था, किन्तु उसे वियुक्ता का रुदन रुकने के लिए बाध्य कर देता था । अंत में पथिक ने पूछा कि किस ऋतु में तुम्हारा प्रिय तुम्हें छोड़कर चला गया । इस पर विरहिणी ने ग्रीष्म से लेकर छहों ऋतुओं की अपनी दशा का वर्णन सुना दिया । सन्देश लेकर पथिक जाना ही चाहता था कि नायक आता हुआ दिखाई पड़ा ।

विरह-काव्य की दृष्टि से 'सन्देश रासक' का केवल अपभ्रंश-साहित्य ही में नहीं, बल्कि समग्र हिन्दी-साहित्य में अपना महत्त्व है । अत्यन्त क्षीण कथानक पर कवि ने विरह का जो ताना-बाना बुना है, वह अद्भुत है । विरहिणी का तो ऐसा चित्र उतारा गया है कि वह विरह की साकार प्रतिमा हो गयी है । पथिक को देखकर वह इतनी उतावली से उसके पास दौड़ती है कि उसकी कटि से करधनी टूटकर गिर जाती है । करधनी में सुदृढ़ ग्रथि देकर उसने ठीक किया ही था कि उसकी मौक्तिक माला टूटकर बिखर गयी । जैसे-तैसे माला को उसने समेट कर रख लिया और दौड़ी, किन्तु शीघ्र ही उसके नूपुर पैरों में फँसकर छितरा गये । वह विरहोत्कंठिता सम्हलकर उठी ही थी कि उसका शिरोवस्त्र फट गया । उसके ठीक करने के प्रयत्न में उसकी चोली फट गयी । अतः वह अपने कर-पल्लव से ही स्तनों को ढँककर पथिक के पास दौड़कर पहुँची । इस चित्र में नायिका का उतावलापन और उसकी दीन-दशा फूटी पड़ती है ।

फिर, उसने प्रिय को जो सन्देश भेजा है उसमें मनोवैज्ञानिक सूझ द्रष्टव्य है । सच्चा पुरुष चुनौती सहन नहीं करता । और, पुरुष के लिए इससे बड़ी ललकार क्या हो सकती है कि उसकी योग्य वस्तु के दूसरा कोई हाथ लगाये ? अतः सन्देश में विरहिणी अपने प्रिय के पुरुषत्व को उभारने का प्रयत्न करती है । वह कहती है कि तुम्हारे जैसे पौरुषवान पति के रहते हुए भी मुझे पराभव सहन करना पड़ रहा है, क्योंकि जिन अंगों के साथ तुमने विलास किया है, वे अब विरहानल के ग्रास हो रहे हैं ।

सन्देश के साथ विरहिणी का हृदय भी कढ़ कर आने लगता है, वह बिलख-बिलख कर रोने लगती है और इतना रोती है कि वह पथिक की सहन-शक्ति के परे हो जाता है । तब पथिक कातर होकर कहता है कि - देवी, जैसे भी हो अपने आँसुओं को रोको और रोककर यात्री का अमंगल न करो । इस पर विरहिणी जो उत्तर देती है उसमें उसकी दीनता मूर्त हो उठी है । वह अपने प्रिय के लिए तब अन्तिम सन्देश देती है कि मेरे हृदयरूपी रत्नाकर को तुम्हारे प्रेम के गुरु मंदर ने मथकर सभी सुख-रत्नों को निकाल लिया है । उसकी इस उक्ति में मात्र रूपक का चमत्कार नहीं बल्कि मर्म को छू देनेवाली पीड़ा भी है ।

इस पीड़ा को खोजते-खोजते वह अपने प्रिय की अरसिकता तक पहुँच जाती है । वह पथिक से पूछती है कि जिस देश में मेरा प्रिय रहता है क्या वहाँ चन्द्रमा की शीतल शुभ्र ज्योत्स्ना नहीं

छिटकती, कमलों के बीच क्या हंस वहाँ कलरव नहीं करता या कोई रागयुक्त प्राकृतिक काव्य नहीं पढ़ता या कोकिला ही पंचम स्वर में नहीं गाती अथवा प्रातःकाल में ओससिक्त दक्षिण पवन नहीं चलता और तब यह पूछती है कि हे पथिक ! क्या मेरा प्रिय ही तो अरसिक नहीं है !

'सन्देश रासक' में प्रकृति की सुरम्य छटा सर्वत्र है । इसमें प्रकृति का एक ओर यदि स्वाभाविक और मनोरम रूप चित्रित हुआ है तो दूसरी ओर सूची भी प्रस्तुत की गयी है । पथिक ने सामोर नगर का वर्णन करते हुए वहाँ की वनस्पतियों का नाम गिनाया है ।

भरतेश्वर बाहुबलिरास (शालिभद्र) — यह डॉ. दशरथ ओझा द्वारा सम्पादित 'रास और रासान्वयी काव्य' में संकलित है । इसकी रचना 1184 ई. में हुई है । इसकी विशेषता यह है कि देशी भाषा की प्राचीनतम पुस्तकों में से एक है । इसमें दोहा, चउपड़, रासा आदि छंद प्रयुक्त हुए हैं और कुल मिलाकर 205 छंदों में पुस्तक पूर्ण हुई है । कवि ने ऋषभ जिनेश्वर के चरणों में प्रणति निवेदित करके, सरस्वती का मन में स्मरण करके और गुरु-पद कमल की वंदना करके कथारम्भ किया है । अंत में फल-वर्णन एवं रचना-काल का संकेत है ।

इसमें भरतेश्वर और बाहुबली की प्रसिद्ध कथा कही गयी है । जम्बूद्वीप के अयोध्या नगर में ऋषभ जिनेश्वर की दो रानियाँ सुनन्दा और सुमंगला से क्रमशः बाहुबली और भरत पुत्र हुए । दोनों यशस्वी और पराक्रमी थे । ऋषभेश्वर ने भरत को अयोध्या तथा बाहुबली को तक्षशिला का राज्य सौंप कर वैराग्य ले लिया । जिस दिन उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ उस दिन भरत के अस्त्रागार में एक दिव्य चक्ररत्न उत्पन्न हुआ । भरत दिव्य अस्त्र पाकर दिग्विजय के लिए निकला और चक्ररत्न की सहायता से सभी राजाओं को परास्त कर लौटा । किन्तु चक्र अयोध्या के बाहर ही रुक गया । उसके मंत्री ने भाइयों को अविजित छोड़ देने को ही इसका कारण बताया । अतः भरतेश्वर और बाहुबली में युद्ध शुरु हुआ । इन्द्र ने मध्यस्थता करके यह युद्ध बन्द कराया और उनके परामर्शानुसार भरत एवं बाहुबली में वचन-युद्ध, दृष्टि-युद्ध और दण्ड-युद्ध हुए जिनमें बाहुबली की ही विजय हुई । हारने पर भरत ने दिव्य चक्र चला दिया, यद्यपि चक्र बाहुबली का कुछ बिगाड़ नहीं सका तथापि उन्हें चक्रवर्ती सम्राट के इस व्यवहार से ग्लानि हुई और उन्हें निवेद हो गया । भरत ने उनके चरणों में शीश नवाकर क्षमा याचना की पर वे तप करने चले ही गये और उन्होंने कैवल्य की प्राप्ति की ।

नेमिनाथ चउपड़ (विनयचन्द्र सूरि) — इसका रचना काल 1296 ई. से 1301 ई. के बीच में अनुमित किया जाता है । इसमें नेमिनाथ और राजुल की अति लोकप्रिय कथा कही गयी है । इस चरित्र पर मध्यकाल के अंत तक खण्ड-काव्य लिखे जाते रहे हैं ।

बीसलदेव रास (नरपति नाल्ह) — 'बीसलदेव रास' प्राचीन हिन्दी-साहित्य की जितनी महत्त्वपूर्ण रचना है, उतनी ही बहुचर्चित भी है । इसकी ऐतिहासिकता एवं इसके पाठ की प्रामाणिकता पर विद्वानों ने पर्याप्त विमर्श किया है । 'बीसलदेव रास' एक उत्तम खण्डकाव्य है और 'सदेश रासक' के पश्चात् प्राङ्मध्यकाल की यह दूसरी काव्य-कृति है जो सभी दृष्टियों से खण्डकाव्य है । इसकी रचना 1343 ई. के आस-पास मानी गयी है । इसके आरम्भ में स्तुति एवं अंत में फलश्रुति है । कथा इस प्रकार है - अजमेर के राजा बीसलदेव का विवाह धार के शासक भोजराज की पुत्री राजमती से हुआ । एक दिन बीसलदेव ने राजमती से गर्वपूर्वक कहा कि मेरे समान दूसरा राजा नहीं है । इस पर राजमती ने उत्तर दिया कि घमंड नहीं करना चाहिए, उसके समान तो अनेक राजे हैं जिनमें से एक तो उड़ीसा का ही राजा है, जिसके राज्य में खानों से हीरे उसी तरह निकलते हैं जिस तरह अजमेर में सांभर से नमक निकलता है । बीसलदेव को यह बात

लग गयी । वह उड़ीसापति के यहाँ जाकर सेवक बन गया । नवपरिणीता राजमती विरह में तड़पने लगी । अंत में उसने ब्राह्मण को दूत बना कर भेजा । उस समय उड़ीसा के दरबार में यह रहस्य खुला कि बीसलदेव अजमेर नरेश हैं । अतः उसने बहुत-से हीर, रत्न आदि देकर बीसलदेव को विदा किया । बीसलदेव और राजमती का पुनर्मिलन हुआ ।

यह भी 'सन्देश रासक' की तरह एक विरह-काव्य ही है । राजमती आश्रय है और बीसलदेव आलम्बन । इस तरह इसमें भी नायिका राजमती की ही प्रधानता है । 'बीसलदेव रास' कथा-योजना के कारण ही नायिका-प्रधान नहीं हो गया है अपितु राजमती का व्यक्तित्व ही बीसलदेव से प्रबलतर है । बीसलदेव यहाँ एक पौरुषहीन नरेश के रूप में उपस्थित है । अपनी पत्नी की नीतिपूर्ण बात को ताना समझकर वह घर छोड़ देता है और जिस राजा का दृष्टांत राजमती ने उसके समक्ष रखा है, उसी के दरबार में जाकर सेवा करने लगता है । उसका यह आचरण क्षत्रियोचित कदापि नहीं है ।

इसके विपरीत राजमती नारी-सुलभ गुणों से युक्त स्वभाव की खरी और जबान की तेज नारी है । इसका प्रमाण उसने अनेक अवसरों पर दिया है । राजा ने जब मिथ्याभिमान में कहा कि मेरे समान दूसरा भूपाल नहीं है तो राजमती अपने खरे स्वभाववश इसका प्रतिवाद किये बिना न रह सकी । उसने कह ही तो दिया कि जिस तरह तुम्हारे राज्य में नमक निकलता है उस तरह उड़ीसाधिप के राज्य में हीरा निकलता है ।

बीसलदेव में पौरुष और स्वाभिमान की जो कमी है उसकी पूर्ति राजमती में हो गयी है । बीसलदेव जब उड़ीसा के राजा के यहाँ जाकर सेवक बनने के लिए प्रस्तुत होता है तो राजमती कहती है कि अर्थ-लोभ के कारण विदेश जाकर तुम कुल को कलकित कर रहे हो और उसमें भी धन के लिए, जो धरती में गड़ा रह जाता है और मनुष्य परलोक चल देता है तथा जो संचय करनेवाले को ही ग्रास बनाता है ।

राजमती जब बीसलदेव को रोकने का सारा प्रयत्न कर हार जाती है तो वह सखियों से कहती है कि बीसलदेव महिपाल नहीं, महिषपाल (भैंस चरानेवाला) है । एक हिन्दू कुलवधू द्वारा पति के लिए ऐसा कथन अमर्यादित माना जाता है किन्तु जिस पृष्ठभूमि में और जैसे हीन-व्यक्तित्व नायक के लिए ऐसी बात कही गयी है कि यह तनिक भी नहीं खटकता । अतः इसमें लोकजीवन की स्वाभाविकता समझनी चाहिए ।

बीसलदेव राजमती के दूत भेजने पर लौटा है । राजमती को ही उसके समक्ष झुकना पड़ा है किन्तु राजमती के स्वभाव का खरापन तब भी नहीं गया । वह बीसलदेव से कहती है कि तुम राजमती-जैसी रमणी का संयोग छोड़ कर परदेश चले गये, अर्थात् किया तुमने घी का व्यापार लेकिन ख़ाया तेल ही । किन्तु एक ओर जहाँ उसमें दर्पयुक्त खरापन है वहाँ दूसरी ओर उसमें स्त्री-सुलभ विनम्रता और कातरता भी है । उसके लाख अनुरोध-विनय करने पर भी बीसलदेव जब उड़ीसा जाने के लिए उद्यत हो ही जाता है तो राजमती सखियों से अपने विषय में कहती है कि मैं हेड़ाउ के उस घोड़े की तरह उपेक्षिता हूँ जिस पर वह सौ-सौ दिनों तक हाथ नहीं फेरता ।

उसकी स्त्री-सुलभ दीनता चरम सीमा पर उस समय पहुँचती है जब भगवान् शिव को राजकुल में जन्म देने के लिए कोसती है । वह उनसे कहती है कि तुमने स्त्री का जन्म क्यों दिया, वन की नीलगाय क्यों नहीं बनाया । अगर मुझे काली कोयल ही बनाते तो आम और चम्पा की

गल पर तो बैठती, अंगूर के मीठे फल तो खाती । आगे वह पुनः कहती है कि यदि मुझे स्त्री ही बनाना था तो राजकुमारी न बनाकर जाटनी क्यों नहीं बनाया ताकि अपने पति के साथ खेत में काम करती, सुन्दर ऊनी वस्त्र पहनती, ऊँचे घोड़े के समान अपने स्वामी के शरीर से अपना शरीर भिड़ाती, उन्हें सामने से लेती और हैस-हैस कर बातें पूछती । इसमें उन्मुक्त जीवन की आकांक्षा, नारी-जीवन की विवशता एवं राजमती का अनन्य अनुराग एक साथ द्रष्टव्य है । ऐसी प्रकृत भाव-भूमि पर खड़ी दूसरी नायिका फिर हिन्दी-साहित्य में नहीं देखी गयी । 'बीसलदेव रास' का भाषावैज्ञानिक एवं अन्य महत्त्व चाहे जो भी हो, उसका सबसे बड़ा महत्त्व यह है कि उसमें राजमती जैसा अपूर्व चरित्र प्रस्तुत किया गया है । राजमती का हिन्दी-साहित्य के नारी-चरित्रों में विशिष्ट स्थान है । बीसलदेव रास के अंत में कवि ने एक छंद में बीसलदेव एवं राजमती के सम्भोग का वर्णन किया है । ऐसा प्रतीत होता है कि विरह का यह लहराता हुआ पारावार संयोग की वापी में जाकर खो गया है ।

जिनोदय सूरि विवाहलउ (मेरुनंदन) — इसका रचना काल 1375 ई. है । इसमें जिनोदय सूरि के आध्यात्मिक परिणय की कथा कही गयी है । जिनोदय सूरि के शैशव का नाम सोमप्रभ था । शैशव में ही एक दिन पालनपुर में जैनाचार्य जिनकुल सूरि के आगमन पर सोमप्रभ ने मुनिजी से दीक्षाकुमारी से विवाह करा देने की प्रार्थना की (अर्थात् दीक्षा प्रदान करने की प्रार्थना की) । माता ने बहुत समझाया-बुझाया और तप की भयंकरता की भी बात कही पर बालक सोमप्रभ का मन किंचित् नहीं डोला । अंत में ससमारोह यह आध्यात्मिक विवाह सम्पन्न हुआ । इस तरह इस खण्डकाव्य की कथा एक रूपक कथा है ।

हरिचन्द्र पुराण (जाखु मणयार) — इसकी रचना 1346 ई. में हुई । इसमें राजा हरिश्चन्द्र की पौराणिक कथा कही गयी है जिसमें कवि ने कई मौलिक प्रकरणों का भी समावेश किया है । इसमें भाषा की सफाई और लोक-काव्य की मधुरता दोनों हैं । इसकी भाषा में एक ओर यदि ब्रज के औक्तिक प्रयोग हैं तो दूसरी ओर अपभ्रंश के अवशिष्ट रूप भी हैं । अतः भाषा एवं भाव दोनों ही दृष्टियों से यह लोक-जीवन के अति निकट है ।

इन प्राङ्मध्यकालीन खण्डकाव्यों के सम्बन्ध में उल्लेखनीय है कि इनमें से 'सन्देश रासक' और 'बीसलदेव रास' ही विशुद्ध खण्डकाव्य हैं जो संस्कृत के खण्डकाव्यों की परम्परा में हैं और जो परम्परा मध्यकाल में भी चलती रही है । प्रस्तुत लेख में विवेचित अन्य काव्य-ग्रंथ खण्डकाव्य के आसपास हैं ।



जं पाउस-णरिन्दु गलगज्जिउ

जं पाउस-णरिन्दु गलगज्जिउ, धूलि-रउ गिम्भेण विसज्जिउ ।
 गम्पिणु मेह-विन्दै आलगगउ, तडि-करवाल-पहारेहिं भग्गउ ।
 जं विवरम्मुह चलिउ विसालउ, उट्ठिउ, 'हणु' भणन्तु उण्हालउ ।
 धगधगधगधगन्तु उद्धाइउ, हसहसहसहसन्तु संपाइउ ।
 जलजलजलजलजल पचलन्तउ, जालावलि-फुलिङ्ग मेल्लन्तउ ।
 धूमावलि-धयदण्डुभेपिणु, वर-वाउल्लि-खग्गु कइडेपिणु ।
 झडझडझडझडन्तु पहरन्तउ, तरुवर-रिउ-भड-थड भज्जन्तउ ।
 मेह-महागय-घड विहडन्तउ, जं उण्हालउ दिट्ठु भिडन्तउ ।

पउमचरिउ, 28.2

जब पावस (वर्षाऋतु का) राजा गरजा (तो) ग्रीष्म द्वारा धूल-वेग (आंधी) भेजा गया। (वह धूल) मेघ-समूह से जाकर चिपक गई, (फिर) बिजलीरूपी तलवार के प्रहारों से (वह धूल) छिन्न-भिन्न कर दी गई। (इसके परिणामस्वरूप) जब (धूल) विमुख चली (तो) मयंकर ग्रीष्मऋतु (पावस राजा को) 'मारो' कहती हुई उठी (और) खूब जलती हुई ऊँची दौड़ी (तथा) उत्तेजित होती हुई तेजी से जली, तब (गर्मी) लपट की शृंखला से चिनगारियों को छोड़ते हुए (आगे चली)। (और) जब ग्रीष्म ऋतु धुआँ की शृंखला के ध्वजदण्डों को ऊँचा करके, तूफानरूपी श्रेष्ठ तलवार को खींचकर झपट मारते हुए (और) प्रहार करते हुए, शत्रु के वृक्षरूपी श्रेष्ठ योद्धा-समूह को नष्ट करते हुए, मेघरूपी महा-हाथियों की टोली को खण्डित करते हुए (पावस राजा) से भिड़ती हुई दिखाई दी।

अनु. डॉ. कमलचन्द सोगानी

अपभ्रंश वाङ्मय में व्यवहृत पारिभाषिक शब्दावलि और उनका अर्थ-अभिप्राय

• डॉ. आदित्य प्रचण्डिया 'दीति'

वैदिक, बौद्ध और जैन मान्यताओं पर आधारित संस्कृतियों भारतीय संस्कृति का संगठन करती हैं। भारतीय संस्कृति को जानने के लिए इन संस्कृतियों का जानना परम आवश्यक है। इन संस्कृतियों को जानने के लिए मुख्यतया दो स्रोत प्रचलित हैं - (1) व्यावहारिकपक्ष (2) सिद्धान्तपक्ष। काल और क्षेत्र के अनुसार व्यावहारिक पक्ष में प्रचुर परिवर्तन होते रहे किन्तु वाङ्मय में प्रयुक्त शब्दावलि में किसी प्रकार का परिवर्तन सम्भव नहीं हो सका। इस प्रकार के साहित्य को समझने-समझाने के लिए उसमें व्यवहृत शब्दावलि को बड़ी सावधानी से समझना चाहिए। इस दृष्टि से अपभ्रंश वाङ्मय में जैन संस्कृति से सम्बन्धित अनेक पारिभाषिक शब्दों का व्यवहार हुआ है जिनका अर्थ वैदिक और बौद्ध-संस्कृतियों की अपेक्षा भिन्न है। शब्द का सम्यक् विश्लेषण कर हमें उसमें व्याप्त अर्थात्मा को भली-भाँति जानना और पहिचानना चाहिए। ऐसी जानकारी प्राप्त करने के लिए शब्द-साधक को किसी भी पूर्व आग्रह का प्रश्रय नहीं लेना होगा। वह तटस्थ भाव से तत्सम्बन्धी सांस्कृतिक-शब्दावलि को जानने का प्रयास करता है। महात्मा भर्तृहरि का कथन है -

सा सर्व विद्या शिल्पानां कलानां चोपबन्धिनी ।

तद् शब्दाभिनिष्पन्नं सर्वं वस्तु विभज्यते ॥

अर्थात् समस्त विद्या, शिल्प और कला शब्द की शक्ति से सम्बद्ध है। शब्द शक्ति से पूर्ण या सिद्ध समस्त वस्तुएँ विवेचित और विभक्त की जाती हैं। अभिव्यक्ति के प्रमुख उपकरणों में भाषा का स्थान महनीय है। अभिव्यक्ति और अर्थ-व्यंजना में शब्द शक्ति की भूमिका महत्त्वपूर्ण

है। शब्द के रूप और अर्थ में काल और क्षेत्र का प्रभाव पड़ा करता है। कालान्तर में उसके स्वरूप और अर्थ में परिवर्तन हुआ करते हैं। परिवर्तन की इस धारा में प्राचीन अर्थात् अपभ्रंश वाङ्मय में प्रयुक्त शब्दावलि का अपना अर्थ-अभिप्राय विशेष रूप ग्रहण कर लेता है। शब्द का यही विशेष अभिप्राय अथवा अर्थ वस्तुतः उसका पारिभाषिक अर्थ स्थिर करता है।

शब्द क्या है ? यह जानना भी आवश्यक है। वृहत् हिन्दी शब्दकोशकार ने पृष्ठ 1312 पर शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है कि आकाश में किसी भी प्रकार से उत्पन्न क्षोभ जो वायु-तरंग द्वारा कानों तक जाकर सुनाई पड़े अथवा पड़ सके वह शब्द कहलाता है। शब्द मूलतया एक शक्ति है। वह ब्रह्म है। परमात्मा है। संसार के सभी रसों का परिपाक शब्दों में समाहित है। उसकी महिमा अपार है। शब्द की साधना से सर्वस्व सध जाता है। साहित्य-शास्त्र में शब्द महिमा का अतिशय उल्लेख मिलता है। शब्द मूलतः एक ध्वनि विशेष है। ध्वनि सामान्यतः दो प्रकार की होती है, यथा — (1) निरर्थक (2) सार्थक। वाद्ययन्त्र (मृदंगादि) से उत्पन्न ध्वनि निरर्थक है और मनुष्य के वाग्यन्त्र से निसृत सार्थक ध्वनि वर्णात्मक ध्वनि कहलाती है। यही वस्तुतः व्याकरण में वह ध्वनि समष्टि है जो एकाकीरूप में अपना अर्थ रखती है। जब शब्द वाक्य के अन्तर्गत प्रयुक्त होकर विभक्त्यन्त रूप धारण करता है तो वह वस्तुतः पद कहलाता है। बालक एक शब्द है और जब वह वाक्य के अन्तर्गत 'बालकः पठति' के रूप में प्रयुक्त होता है तो 'बालकः' पद बन जाता है क्योंकि यह प्रथमा विभक्ति का एक वचन है और व्याकरण के अनुसार सुप् विभक्ति प्रत्यय है। 'पठति' दूसरा पद है क्योंकि इसमें तिङ्प्रत्यय है। आचार्य पाणिनि शब्द में विभक्ति के प्रयोग से पद का निर्माण होना मानते हैं। वह 'अष्टाध्यायी' (1/4/14) नामक ग्रंथ में कहते हैं — "सुप्तिङ्तम् पदम् !"

भाषाविज्ञान की दृष्टि से शब्द की मान्यता में कालान्तर में परिवर्तन हुआ करता है। शब्द बड़ा स्थूल है और उसमें व्यजित अर्थ उतना ही सूक्ष्म। यद्यपि सूक्ष्म की अभिव्यक्ति स्थूल के माध्यम से सम्भव नहीं होती तथापि जो प्रयत्न हुए हैं उन्हें सावधानीपूर्वक समझने की सर्वथा अपेक्षा रही है। किसी विशिष्ट शास्त्र में जो शब्द किसी विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त होता है अर्थ की दृष्टि में उस शब्द को पारिभाषिक शब्द कहते हैं। डॉक्टर रघुवीर के अनुसार—जिन शब्दों की सीमा बौध दी जाती है, वे पारिभाषिक शब्द हो जाते हैं और जिनकी सीमा नहीं बौधी जाती वे साधारण शब्द होते हैं। श्री महेन्द्र चतुर्वेदी पारिभाषिक शब्द के दो प्रमुख गुणों का उल्लेख करते हैं — (1) नियतार्थता (2) परस्पर अपवर्जिता। प्रत्येक पारिभाषिक शब्द का अर्थ नियत-निश्चित होता है जिसमें सुनिश्चित अर्थ को ही व्यक्त किया जाता है। सामान्य शब्द का उद्भव जन-साधारण के बीच होता है और वहाँ स्वीकृत होने के बाद वह अपर बौद्धिकता के स्तर तक उठता है परन्तु पारिभाषिक शब्द का जन्म एक सीमित संकुचित बौद्धिक कर्म की सहमति से और उनके बीच होता है।

भाषा में पारिभाषिक शब्दों की आवश्यकता सतत बढ़ती रहती है। ज्यों-ज्यों ज्ञान-विज्ञान के चरण आगे बढ़ते हैं उनकी उपलब्धियों को मूर्त बोधगम्य रूप देने के लिए पारिभाषिक शब्दों की आवश्यकता पड़ती है। हमारे ज्ञान की वर्द्धमान परिधि में जो भी वस्तु विचार अथवा व्यापार आ जाते हैं उन्हें हम नाम दे देते हैं। यह प्रक्रिया सामान्य शब्दों के जन्म की प्रक्रिया से भिन्न होती है। पारिभाषिक शब्दावलि बौद्धिक तन्त्र की उपज है और जहाँ तक इस तंत्र की सीमा होती है वहीं तक उसका प्रचार-प्रसार होता है। किसी भी भाषा में समुचित पारिभाषिक शब्दावलि की विद्यमानता उस भाषा-भाषी वर्ग के बौद्धिक उत्कर्ष एवं सम्पन्नता का परिचायक होती है और

उसका अभाव बौद्धिक दरिद्रता का । भाषाओं की शब्दावलियों में पारिभाषिक शब्दावलि का महान स्थान मिस्टर मोरियोपाई के इस कथन से स्पष्ट भाषित हो जाएगा — “यह अनुमान लगाया गया है कि सभी सभ्य भाषाओं की शब्दावलियों में आधे शब्द वैज्ञानिक तथा शिल्प विज्ञान सम्बन्धी पारिभाषिक शब्द हैं, जिनमें से बहुत से शब्द पूरी तरह से अन्तर्राष्ट्रीय हैं ।” भारत के प्रसिद्ध वैज्ञानिक तथा शिक्षाशास्त्री स्वर्गीय डॉ. शान्तिस्वरूप भटनागर ने लिखा था — “समस्त भारत के शिक्षाशास्त्री इस बात में सहमत हैं कि देश में आधुनिक विज्ञानों के ज्ञान के प्रचार में सबसे बड़ी बाधा समुचित पारिभाषिक शब्दावलि का अभाव है।” पारिभाषिक शब्दों, अर्द्धपारिभाषिक शब्दों तथा सामान्य शब्दों का यह महान अभाव न केवल हिन्दी में ही है, वरन् भारत की सभी आधुनिक भाषाओं में है ।

कभी-कभी एक ही पारिभाषिक शब्द का अर्थ भिन्न-भिन्न विषयों या विज्ञानों में भी अलग-अलग हो जाता है । उदाहरण के बतौर संस्कृत शब्द ‘आगम’ का साधारण अर्थ ‘आना’ होता है । पर निरुक्त में इसका अर्थ ‘किसी शब्द में किसी वर्ण का आना तथा प्रत्यय’ होता है । धर्मशास्त्र में आगम का अर्थ ‘धर्मग्रंथ और परम्परा से चला आनेवाला सिद्धान्त’ होता है । आटे के संस्कृत अंग्रेजी कोश में आगम के इन पाँच अर्थों के अतिरिक्त तेरह अर्थ और दिये हैं जिनमें चार-पाँच अर्थ पारिभाषिक हैं । इसीप्रकार सन्धि शब्द का साधारण अर्थ मेल है पर संस्कृत व्याकरण और राजनीति में इसके अलग-अलग अर्थ हैं जो मेल-मिलाप से कुछ मिलते हुए भी भिन्न ही हैं । आटे ने सन्धि शब्द के भी चौदह अर्थ दिए हैं । संस्कृत ‘लोह’ शब्द का सामान्य अर्थ ‘लोहा’ हम सब जानते हैं पर ‘लोह’ शब्द के अर्थ भी तौबा, तौबे का फौलाद, सोना, लाल, लालसा, कोई धातु, रक्त (खून), हथियार और मछली पकड़ने का काँटा भी है । अभी देखते-देखते बौद्ध धर्म का धार्मिक-पारिभाषिक शब्द ‘पंचशील’ राजनैतिक-पारिभाषिक शब्द बन गया और उसका अर्थ सह-अस्तित्व आदि हो गया । इसीप्रकार ‘समय’ शब्द का सामान्य अर्थ काल (Time) का बोधक है । संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ में ‘समय’ के उन्नीस अर्थ उल्लिखित हैं । लेकिन जैन दर्शन में उसका अभिप्राय ‘आत्मा’ से भी है । अतएव ‘समय’ शब्द जैनदर्शन का पारिभाषिक शब्द है । ‘निरोध’ शब्द का जनसामान्य में अर्थ प्रचलित है — परिवार नियोजन का चर्चित उपकरण । पर जैन दर्शन में इसका अर्थ ज्ञानपूर्वक रोकना है । ‘भव’ का सर्वसामान्य अर्थ है संसार किन्तु जैनदर्शन में ‘भव’ शब्द जन्म से मरण तक की मध्यवर्ती अवधि के लिए प्रयुक्त होता है अतएव जैनदर्शन के उक्त दोनों शब्द भी पारिभाषिक हैं ।

यह जानकर आश्चर्य नहीं होगा कि आज अपभ्रंश वाङ्मय में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दावलि से अपरिचित होने के कारण व्यञ्जित अर्थात्मा को समझने-समझाने में बड़ी असावधानी की जा रही है । प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दावलि का सम्यक्ज्ञान प्राप्त किए बिना कोई भी अर्थ-शास्त्री (शब्दार्थ शास्त्री - Semasiologist) किसी भी काव्यांश का अर्थ और व्याख्या करने में समर्थ नहीं हो सकता । हिन्दी साहित्य पर अपभ्रंश का सीधा प्रभाव पड़ा है । हिन्दी साहित्य के अध्येता के लिए यथार्थ स्वरूप तथा अर्थ के मूलस्रोत को जानने के लिए अपभ्रंश का अध्ययन आवश्यक हो गया है । अपभ्रंश के अध्ययन के लिए उसमें प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दावलि का ज्ञान होना परमावश्यक है । प्रस्तुत शोध-लेख में अपभ्रंश वाङ्मय में प्रयुक्त कतिपय पारिभाषिक शब्दों का अर्थ-अभिप्राय प्रस्तुत करना हमारा मूलाभिप्रेत है ।

आसव (मयणपराजयचरित, 6) — आस्रव । ‘स्रु’ धातु से आस्रव शब्द निष्पन्न है जिसका अर्थ है — बहकर आना । काय, वचन और मन की जो क्रिया है वह योग कहलाती है । इसी योग को आस्रव कहते हैं । शुभ और अशुभ के भेद से योग के दो भेद होते हैं - यथा -

(1) शुभयोग - यह पुण्य कर्म का आस्रव होता है (2) अशुभयोग - यह पाप कर्म का आस्रव होता है । 'राजवार्तिक' में पुण्य-पाप रूप कर्मों के आगमन के द्वार को आस्रव कहा गया है - पुण्यपापागम द्वार लक्षण आस्रवः । 'बृहद् द्रव्यसंग्रह' में आस्रव को दो भागों में विभाजित किया गया है -

आस्रवदि जेण कम्म परिणामेणप्पणे स विण्णेओ
भावासवो जिणुत्तो कम्मासवणं परो होदि ।

(1) द्रव्यास्रव-ज्ञानावरणादिरूप कर्मों का जो आस्रव होता है, वह द्रव्यास्रव है । (2) भावास्रव-जिस परिणाम से आत्मा के कर्म का आस्रव होता है, वह भावास्रव कहलाता है । 'तत्त्वार्थसार' (4-2-4) में श्री अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं -

काय वाङ्मनसां कर्मस्मृतो योगः स आस्रवः
शुभः पुण्येस्य विज्ञेयो विपरीतश्च पाप्मनः
सरसः सलिलवाहि द्वारमत्र जनैर्यथा
तदास्रवण हेतुत्वादास्रवो व्यपदिश्यते
आत्मनोऽपि तथैवैषा जिनैर्योग प्रणालिका
कर्मास्रवस्य हेतुत्वादास्रवो व्यपदिश्यते ।

जिस प्रकार तालाब में पानी लानेवाला द्वार पानी आने का कारण होने से 'आस्रव' कहा जाता है, उसी प्रकार आत्मा की यह योगरूप प्रणाली भी कर्मास्रव का हेतु होने से जिनेन्द्र भगवान के द्वारा आस्रव कही जाती है ।

कम्मट्ठ (करकंडचरिउ, 3.22) - आठ कर्म । जैन दर्शन में आठ प्रकार के कर्मों का उल्लेख है । इन्हें दो भागों में विभाजित किया गया है - यथा - (1) घातिया - जो जीव के अनुजीवी गुणों को घात करने में निमित्त होते हैं वे घातिया कर्म कहलाते हैं । ये चार प्रकार के होते हैं - यथा - (क) ज्ञानावरणी - वे कर्म-परमाणु जिनसे आत्मा के ज्ञानस्वरूप पर आवरण हो जाता है अर्थात् आत्मा अज्ञानी दिखलाई देता है उसे ज्ञानावरणी कर्म कहते हैं । (ख) दर्शनावरणी - वे कर्म परमाणु जो आत्मा के अनन्त दर्शन पर आवरण करते हैं, दर्शनावरण कर्म कहलाते हैं । (ग) मोहनीय - वे कर्म परमाणु जो आत्मा के शान्त आनन्द स्वरूप को विकृत करके उसमें क्रोध, अहंकार आदि कषाय तथा राग-द्वेष रूप परिणति उत्पन्न कर देते हैं, मोहनीय कर्म कहलाते हैं । (घ) अन्तराय - वे कर्म परमाणु जो जीव के दान, लाभ, भोग उपभोग और शक्ति के विघ्न में उत्पन्न होते हैं अन्तराय कर्म कहलाते हैं । (2) अघातिया - आत्मा के अनुजीवी गुणों के घात में निमित्त न हों वे अघातिया कर्म कहलाते हैं । ये चार प्रकार के होते हैं, यथा - (च) वेदनीय - जिनके कारण प्राणी को सुख या दुःख का बोध होता है, वेदनीय कर्म कहलाते हैं । (छ) आयु - जीव अपनी योग्यता से जब नारकी, तिर्यच, मनुष्य या देव शरीर में रुका रहे तब जिस कर्म का उदय हो उसे आयु कर्म कहते हैं । (ज) नाम - जिस शरीर में जीव हो उस शरीरादि की रचना में जिस कर्म का उदय हो उसे नाम कर्म कहते हैं । (झ) गोत्र - जीव को उच्च या नीच आचरणवाले कुल में उत्पन्न होने में जिस कर्म का उदय हो उसे गोत्र कर्म कहते हैं ।

कसाउ (महापुराण, 17.28) — कषाय । राग-द्वेष का ही अपर नाम कषाय है । जो आत्मा को कसे अर्थात् दुःख दे, उसे ही कषाय कहते हैं । इस प्रकार यह भी कहा जा सकता है कि आत्मा में उत्पन्न होनेवाला विकार मोह-राग-द्वेष ही कषाय है अथवा जिससे संसार की प्राप्ति हो वही कषाय है । कषाय चार प्रकार की होती है - (1) क्रोध — गुस्सा करने को क्रोध कहा जाता है । जब हम ऐसा मानें कि इसने मेरा बुरा किया तो आत्मा में क्रोध उत्पन्न होता है । (2) मान — घमण्ड को ही मान कहा जाता है । जब हम यह मान लेते हैं कि दुनिया की वस्तुएँ मेरी हैं, मैं इनका स्वामी हूँ तो मान उत्पन्न होता है । (3) माया — छल-कपट भाव को माया कहा जाता है । मायाचारी जीव के मन में, वाणी में तथा उसके करने में अर्थात् व्यवहार में भिन्नता होती है । (4) लोभ — पर-पदार्थ के प्रति उत्पन्न आसक्ति को लोभ कहा जाता है । मिथ्यात्व के कारण पर-पदार्थ या तो इष्ट (अनुकूल) या अनिष्ट (प्रतिकूल) अनुभव होते हैं, मुख्यतया तभी कषाय उत्पन्न होती है ।

केवलगाण (योगसाह, 3) — केवलज्ञान । जो किसी बाह्य पदार्थ की सहायता से रहित आत्मस्वरूप से उत्पन्न हो, आवरण से रहित हो, क्रमरहित हो, घातिया कर्मों के क्षय से उत्पन्न हुआ हो तथा समस्त पदार्थों को जाननेवाला हो, उसे केवलज्ञान कहते हैं ।

णिगन्थ (मयणपराजयचरित, 17) — निर्गन्थ । जिसप्रकार जल में लकड़ी से की गई रेखा अप्रकट रहती है, इसीप्रकार जिनके कर्मों का उदय अप्रकट हो और अन्तर्मुहूर्त के पश्चात् ही जिन्हें केवलज्ञान व केवलदर्शन प्रकट होनेवाला है, वे निर्गन्थ कहलाते हैं ।

परमेठ्ठी (कालस्वरूप कुलक 2.6) — परमेष्ठी । जो परमपद में तिष्ठता है वह परमेष्ठी कहलाता है । ये पाँच प्रकार के होते हैं, यथा - (1) अरहंत — जो गृहस्थपना त्यागकर मुनिधर्म अंगीकार कर निज स्वभाव-साधन द्वारा चार घातिया कर्मों का क्षय करके अनन्त चतुष्टय (अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य) रूप विराजमान हुए वे अरहंत कहलाते हैं । (2) सिद्ध — जो गृहस्थ अवस्था का त्याग कर, मुनिधर्म-साधन द्वारा चार घातिया कर्मों का नाश होने पर अनन्त चतुष्टय प्रकट करके कुछ समय बाद अघातिया कर्मों का नाश होने पर समस्त अन्य द्रव्यों का सम्बन्ध छूट जाने पर पूर्ण मुक्त हो गए हैं, लोक के अग्रभाग में किंचित् न्यून पुरुषाकार विराजमान हो गए हैं, जिनके द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म का अभाव होने से समस्त आत्मिक गुण प्रकट हो गए हैं, वे सिद्ध कहलाते हैं । (3) आचार्य — जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र की अधिकता से प्रधान पद प्राप्त करके मुनि संघ के नायक हों वे आचार्य कहलाते हैं । (4) उपाध्याय — द्वादशांग के पाठी जो समस्त शास्त्रों का सार आत्मस्वरूप में एकाग्रता कर उसमें लीन रहनेवाले तथा मुनिसंघ को पढ़ानेवाले परमेष्ठी उपाध्याय कहलाते हैं । (5) साधु — जो मुनिधर्म के धारक हैं और आत्मस्वभाव को साधते हैं तथा समस्त आरम्भ और अन्तरंग, बहिरंग परिग्रह से परे ज्ञान-ध्यान में लीन रहनेवाले परमेष्ठी साधु कहलाते हैं ।

महव्वय (प्रकीर्ण, 15) — महाव्रत । हिंसादि पाँच पापों से सर्वदिश निवृत्ति होने को महाव्रत कहते हैं । ये पाँच प्रकार के कहे गए हैं — (1) अहिंसा - काय, इन्द्रिय, गुणस्थान, मार्गस्थान, कुल आयु, योनि - इनमें सब जीवों को जानकर कयोत्सर्गादि क्रियाओं में हिंसा आदि का त्याग करना अहिंसा महाव्रत है । (2) सत्य - ज्ञान और चारित्र की शिक्षा आदि के विषय में धर्मबुद्धि के अभिप्राय से जो निर्दोष वचन कहे जाते हैं वह सत्यधर्म कहलाता है । (3) अचौर्य - दूसरों के स्व का हरण न करने को अचौर्य अथवा अस्तेय कहते हैं । (4) ब्रह्मचर्य - जननेन्द्रिय, इन्द्रिय समूह और मन की शान्ति को ब्रह्मचर्य कहा जाता है । (5) अपरिग्रह - बाह्य (आत्मा से अतिरिक्त वस्तुओं) में मन का सम्बन्ध न करने को अपरिग्रह कहा जाता है ।

मोक्ष (पउमचरिउ 22.2) — मोक्ष । सकल कर्मों का नाश हो जाने पर जीव का केवल ज्ञानानन्दमय स्वरूप को प्राप्त होकर, देह के छूट जाने पर ऊर्ध्वगमन स्वभाव के द्वारा ऊपर लोक के अग्रभाग में सदा के लिए स्थित हो जाना मोक्ष, मुक्ति अथवा निर्वाण कहलाता है ।

रुद्ध (मयणपराजयचरिउ 16) — रौद्रार्त । हिंसा, झूठ, चोरी और विषय संरक्षण के समय से युक्त जो ध्यान होता है वह संक्षेप से रौद्रध्यान कहा गया है तथा इष्ट का वियोग, अनिष्ट का संयोग, निदान और वेदना का उदय होने पर जो कषाय से युक्त ध्यान होता है वह संक्षेप से आर्तध्यान कहा गया है ।

सल्लेहण (पउमचरिउ 22-11) — सल्लेखन । सत् अर्थात् भलीप्रकार और लेखना का अर्थ है कषाय तथा शरीर का कृश करना । इसप्रकार कषाय (क्रोध, मान, माया और लोभ) तथा शरीर को भलीप्रकार कृश करना सल्लेखना कहलाती है । सल्लेखना दो प्रकार की होती है, यथा— (1) आभ्यन्तर सल्लेखना - कषायों को कृश करना आभ्यन्तर सल्लेखना कहलाती है, (2) बाह्य सल्लेखना - शरीर को कृश करना बाह्य सल्लेखना कहलाती है । सल्लेखना योगीगत है जबकि आत्महत्या भोगीगत । योगी तो अपने प्रत्येक जीवन में शरीर को सेवक बनाकर अन्त समय में सल्लेखना द्वारा उसका त्याग करता हुआ प्रकाश की ओर चला जाता है और भोगी अर्थात् आत्महत्यारा अपने प्रत्येक जीवन में उसका दास बनकर अन्धकार की ओर चला जाता है ।

1. अपभ्रंश वाङ्मय में व्यवहृत पारिभाषिक शब्दावलि, आदित्य प्रचण्डिया 'दीति', महावीर प्रकाशन, अलीगंज, एटा (उ.प्र.), सन् 1977 ।
2. बृहत् हिन्दी शब्द-कोश, सम्पा. कालिकाप्रसाद आदि, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी ।
3. पारिभाषिक शब्दावलि कुछ समस्याएँ, सम्पा. डॉ. भोलानाथ तिवारी ।
4. Story of Language.
5. हिन्दी शब्द रचना, माईदयाल जैन ।
6. संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ ।
7. बृहद् जैन शब्दार्णव, भाग-2, मास्टर बिहारीलाल ।
8. जैन हिन्दी पूजाकाव्य परम्परा और आलोचना, डॉ. आदित्य प्रचण्डिया 'दीति' ।
9. बृहद् द्रव्य संग्रह, नेमिचन्द्राचार्य ।
10. जैन कवियों के हिन्दी काव्य का काव्यशास्त्रीय मूल्यांकन, डॉ. महेन्द्रसागर प्रचण्डिया ।
11. आर्ष ग्रन्थों में व्यवहृत पारिभाषिक शब्दावलि और उसका अर्थ-अभिप्राय, डॉ. आदित्य प्रचण्डिया 'दीति', साध्वीरत्न पुष्पवती अभिनन्दन ग्रंथ ।
12. अपभ्रंश वाङ्मय में व्यवहृत पारिभाषिक शब्दावलि, आदित्य प्रचण्डिया 'दीति', परामर्श (हिन्दी), सितम्बर 1984, पुणे विश्वविद्यालय प्रकाशन ।
13. अपभ्रंश भाषा का पारिभाषिक कोश, डॉ. आदित्य प्रचण्डिया 'दीति', डी. लिट्. का शोध प्रबन्ध, 1988, आगरा विश्वविद्यालय ।
14. अपभ्रंश भाषा का अध्ययन, वीरेन्द्र श्रीवास्तव ।

अपभ्रंश के अवसान के दो कवि

• डॉ. कान्तिकुमार जैन

•

आदिकालीन काव्य-दीर्घा में इतिहासकारों ने जिन कवियों की कृतियों को स्थान दिया है उनमें सरहपा, शबरपा जैसे सिद्ध; गोरखनाथ जैसे नाथ; स्वयंभू, पुष्पदन्त, हेमचन्द्र, सोमप्रभ सूरि, मेरुतुंग जैसे जैन; दलपति विजय, नरपति नाल्ह, जगनिक, चन्द्र बरदायी जैसे चारण एवं विद्यापति और अमीर खुसरो जैसे जनकवि हैं। इन कवियों की कृतियों का महत्त्व साहित्य के लिए जितना है उतना ही भाषा के लिए है। तत्कालीन भाषा के अध्ययन के लिए सिद्धों, नाथों और जैनों की रचनाएं प्रचुर एवं प्रामाणिक सामग्री प्रस्तुत करती हैं। वास्तव में इन सभी धर्म-उपदेशकों ने परवर्ती साहित्य की भूमिका प्रस्तुत की। नाथ-साहित्य का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने जो कहा है, न्यूनाधिक मात्रा में वह सिद्ध एवं जैन-साहित्य के सम्बन्ध में भी कहा जा सकता है — “उसने परवर्ती सन्तों के लिए श्रद्धाचरण-प्रधान धर्म की पृष्ठभूमि तैयार कर दी थी। जिन सन्त-साधकों की रचनाओं से हिन्दी साहित्य गौरवान्वित है, उन्हें बहुत कुछ बनी-बनायी भूमि मिली थी।” जैनों ने महाकाव्य, खण्डकाव्य, गीतिकाव्य, लौकिक प्रेमकाव्य, रूपक साहित्य, कथा साहित्य एवं स्फुट काव्य आदि के जो काव्यरूप प्रचलित किये थे, वे परवर्ती कवियों द्वारा स्वीकार किये गये। वास्तव में हिन्दी के आदिकालीन काव्य की दीर्घा में जिन कवियों के चित्र अधिकारपूर्वक टोंगे जा सकते हैं, वे चारण और जनकवि ही हैं। परवर्ती खोजों ने परवर्ती अपभ्रंश के अद्दहमाण जैसे कवियों को भी इस दीर्घा का पात्र स्वीकार किया है। उसका कारण यही है कि अद्दहमाण जैसे कवि अपनी काव्य-भाषा के लिए रूढ़िबद्ध और टकसाली अपभ्रंश का मोह त्यागकर उस परवर्ती अपभ्रंश का साहसपूर्वक प्रयोग कर रहे थे जो जन-बोलियों के निकट

धी और जिसका सम्बन्ध लोक-व्यवहार में विकसित हो रही हिन्दी की बोलियों से अत्यन्त घनिष्ठ और आत्मीय था ।

इन चारण और जनकवियों में भी सभी कवि एक से महत्त्व के अधिकारी नहीं हैं । इस काल की अधिकांश कृतियों के प्रामाणिक पाठ उपलब्ध नहीं हैं और उनमें से अनेक परवर्ती प्रक्षेपों के कारण विकृत हो चुके हैं । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने जिन अनेक कवियों को अपने इतिहास में आदिकालीन कवियों के रूप में स्थान दिया है, उनमें से बहुत से कवियों की रचनाएँ नोटिस मात्र हैं और अनेक का काव्य आदिकाल में न लिखा जाकर बहुत बाद में लिखा गया है, अतः सुमानरासो के रचयिता दलपति विजय, परमालरासो के रचयिता जगनिक जैसे कवियों को आदिकालीन कवि-दीर्घा में स्थान देना या महत्त्वपूर्ण स्थान देना सन्दिग्ध हो जाता है । यही स्थिति जनकवि अमीर खुसरो की भी है । अमीर खुसरो आदिकाल का अत्यन्त लोकप्रिय और कृती कवि है किन्तु उसकी हिन्दी-रचनाएँ लोकप्रियता के रंग-रोगन से इतनी पुत चुकी हैं कि उनके वास्तविक रूप का सन्धान कर पाना कठिन हो गया है । अमीर खुसरो आदिकाल का महत्त्वपूर्ण कवि तो है किन्तु उसका काव्य अपने वर्तमान रूप में आदिकाल का महत्त्वपूर्ण काव्य नहीं रह गया है । ऐसी स्थिति में आदिकाल की काव्य-दीर्घा में जिन कवियों के चित्र अधिकार एवं महत्त्वपूर्वक टौंगे जा सकते हैं उनमें अद्दहमाण, चन्द्र बरदायी, नरपति नाल्ह और विद्यापति ही हैं । ये चारों कवि आदिकालीन (ग्यारहवीं से पन्द्रहवीं शताब्दी) अवधि-खण्ड के कवि हैं, इन चारों ने तत्कालीन काव्य-रूपों और कथानक-रूढ़ियों का अपने काव्य में प्रयोग किया है, ये सभी अपभ्रंश से इतर उस भाषा के कवि हैं जिसे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'देशभाषा' का नाम दिया है । इन देशभाषाओं का विकास अपभ्रंश की अन्तिम अवस्था से हुआ है और ये मध्यदेश के विभिन्न क्षेत्रों में प्रचलित थी । इनमें अद्दहमाण पछाह में प्रचलित परवर्ती अपभ्रंश के कवि हैं (यद्यपि उन्होंने अपना काव्य पूर्वदेश में लिखा); अमीर खुसरो पछाह में प्रचलित खड़ीबोली के; चन्द्र बरदायी और नरपति नाल्ह राजस्थान और ब्रज क्षेत्र में व्यवहृत डिंगल और पिंगल के कवि हैं तथा विद्यापति ध्रुव पूरब में प्रचलित मैथिली के । वास्तव में इस युग में किसी एक केन्द्रीय काव्य-भाषा का निर्माण नहीं हो पाया था और संस्कृत या अपभ्रंश का स्थान हिन्दी की कोई एक बोली नहीं ले पायी थी । आदिकालीन कवि अधिकांशतया जनता के कवि थे और उनका काव्य जनता के प्रति सम्बोधित था । ऐसी स्थिति में जनता की बोली में अपना काव्य लिखे बिना उनकी कोई गति नहीं थी । यह प्रवृत्ति भक्तिकाल तक चलती रही और कहीं रीतिकाल में जाकर समस्त हिन्दी क्षेत्र में ब्रजभाषा के रूप में एक केन्द्रीय काव्य-भाषा की सर्वमान्य प्रतिष्ठा हो सकी ।

यहाँ अपभ्रंश के अवसान के दिनों के दो देशभाषा कवियों — अद्दहमाण और नरपति नाल्ह के काव्य और काव्य-व्यक्तित्व का सक्षिप्त विवेचन किया जा रहा है ।

अद्दहमाण

पहले चन्द्र बरदायी को हिन्दी का आदिकवि स्वीकार किया जाता था किन्तु जबसे परवर्ती अपभ्रंश के काव्य को हिन्दी साहित्य के अन्तर्गत समाविष्ट करने की प्रवृत्ति प्रारम्भ हुई है तब से स्वयंभू, पुष्पदंत, अद्दहमाण जैसे कवियों को हिन्दी का प्रारम्भिक कवि स्वीकार किया जाने लगा है । बारहवीं शताब्दी के लगभग अपभ्रंश अपनी व्याकरणिक जटिलताओं का परित्याग कर एक जनबोली के रूप में प्रतिष्ठित हो रही थी । यह परवर्ती अपभ्रंश, जिसे कभी अवहट्ट कहा जाता है और कभी पुरानी हिन्दी, यद्यपि अपभ्रंश से पूरी तरह से पृथक् नहीं हुई थी किन्तु वह एक नयी विकसित भाषा का आभास निश्चय ही देने लगी थी । अद्दहमाण (अब्दहमाण) इसी परवर्ती

अपभ्रंश का कवि था । उसका सन्देश-रासक परवर्ती अपभ्रंश का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है और उसकी काव्य-सुषमा पर रीझ कर मुनि जिनविजय, हरिवल्लभ भायाणी और डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी जैसे विद्वानों ने उसे हिन्दी काव्य-परम्परा का महत्तम प्रारम्भिक काव्य घोषित किया है । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के इतिहास में न तो अब्दुलरहमान का उल्लेख है और न ही उसके सन्देश-रासक का । सन्देश-रासक को प्रकाश में लाने का श्रेय दुर्लभ और प्राचीन ग्रन्थों के उद्धारक अपभ्रंश-शास्त्री पं. श्री मुनि जिनविजयजी को है । वैसे तो उन्हें सन् 1912 ई. में ही सन्देश-रासक की एक प्रति प्राप्त हो चुकी थी किन्तु उसका सम्पादन और प्रकाशन सन् 1945 में ही सम्भव हुआ । विगत वर्षों में सन्देश-रासक पर विद्वान इस प्रकार रीझ उठे कि उसका कवि और काव्य दोनों हिन्दी की परम उज्ज्वल और मूल्यवान मणि के रूप में स्वीकृत किये गये हैं ।

सन्देश-रासक के रचियता अद्दहमाण या अब्दुलरहमान के विषय में अधिक जानकारी नहीं मिलती । स्वयं कवि ने अपने काव्य के प्रथम प्रक्रम में अपना परिचय दिया है और स्वयं के लिए अद्दहमाण अभिधा का प्रयोग किया है —

तह तणओ कूलकमलो पाइय कव्वेसु गीय विसयेसु ।
अद्दहमाण सनेहरासय रइय ॥

अद्दहमाण का अर्थ अब्दुलरहमान किया गया है । पं. हजारीप्रसाद द्विवेदी अद्दहमाण का अर्थ 'आहित यश' करने के पक्ष में हैं । उन्होंने अद्दहमाण का सम्बन्ध ज्वलन्त यश से भी जोड़ा है क्योंकि अद्दह का एक अर्थ अदहन (उबलता, घघकता या जलता हुआ) भी होता है । कवि की श्लेषमूलक शब्दों के प्रयोग में गहरी दिलचस्पी थी और यह उसकी स्वाभाविक शैली का एक उदाहरण है कि वह उद्धृत पक्तियों में अपने नाम का उल्लेख करते हुए अपने काव्य-यश के संबन्ध में दर्पोक्ति भी करता है ।

अद्दहमाण के पिता का नाम मीरसेन था । वे तन्तुवाय (जुलाहे) थे और हिन्दू धर्म-परिवर्तन के उपरान्त मुसलमान हो गये थे । वे मूलतः पश्चिमी भारत के निवासी थे और जीविका के लिए पूर्व की ओर आ गये थे । इस पश्चिम और पूर्व देश का ठीक-ठीक सन्धान नहीं किया जा सका है, किन्तु पश्चिम देश से कवि का आशय उस क्षेत्र से जान पड़ता है जो आजकल पश्चिमी पाकिस्तान में है । अब्दुलरहमान का जन्म पूर्व में हुआ था । उनका जन्म कब हुआ था, यह कहना सम्भव नहीं है किन्तु ऐसा अनुमान किया जाता है कि वे 12वीं शताब्दी में उत्पन्न हुए होंगे । महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने अब्दुलरहमान को 11वीं शताब्दी का कवि माना है और उसके सन्देश-रासक की रचना का काल 12वीं-13वीं शताब्दी निश्चित किया है । मुनि जिनविजयजी ने अन्तःसाक्ष्य के आधार पर यह अनुमान लगाया है कि अब्दुलरहमान का जन्म और उसके काव्य की रचना मुहम्मद गोरी के आक्रमण के पूर्व ही चुकी होगी । सन्देश-रासक में विजयनगर, विक्रमपुर, स्तम्भ-तीर्थ आदि नगरों के जिस ऐश्वर्य का उल्लेख हुआ है, वह मुहम्मद गोरी के आक्रमण (1192 ई.) के बाद सम्भव नहीं है ।

सन्देश-रासक एक रासक काव्य है और इसका निर्माण लोक-प्रचलित प्रेमकथा के आधार पर हुआ है । इस प्रकार के लोकाख्यानमूलक काव्य प्रायः कल्पनाबहुल हुआ करते थे और कवि अवसर निकालकर उनमें प्रेम, विरह, षड्रुतु आदि का विस्तृत चित्रण करता था । सन्देश-रासक 223 छन्दों का एक लघु काव्य है, जो अपनी सम्पूर्णता में तो खण्ड-काव्य कहा जा सकता है, किन्तु जिसका प्रत्येक छन्द स्वतंत्र महत्त्व और सौन्दर्य रखता है । 'उद्धवशतक' या 'औसू' के वस्तु-संगठन

में जो बिखरा-बिखरा-सा कसाव है या कसा-कसा-सा बिखराव है, ठीक वैसा ही सन्देश-रासक में देखने को मिलता है । सन्देश-रासक की सम्पूर्ण कथा तीन प्रक्रमों में विभाजित है —

- (1) प्रस्तावना
- (2) विरहिणी नायिका का वर्णन और पथिक को सन्देश
- (3) षड्ऋतु वर्णन

प्रथम प्रक्रम में ईश्वर वन्दना, कवि परिचय, ग्रंथ परिचय, श्रोताओं से निवेदन आदि सम्मिलित हैं । दूसरे प्रक्रम में विरहिणी नायिका का चित्रण है, जो अपने प्रियतम तक अपने विरह की व्याकुलता का समाचार प्रेषित करना चाहती है । मेघदूत में तो कालिदास ने मेघ को सन्देश-वाहक बनाया है, किन्तु सन्देश-रासक की नायिका पथिक को अपना दूत बनाकर भेजती है । संयोग से पथिक वहीं जा रहा है, जहाँ विरहिणी का प्रियतम है । वह विस्तार से अपने विरह की व्यथा-कथा कहती है और ऊबकर जब पथिक चलने को होता है तो एक छन्द और सुनने का अनुरोध कर उसे व्यथा-कथा का सम्पूर्ण विवरण जानने को उत्कण्ठित करती है । दूसरा प्रक्रम यहाँ समाप्त होता है । तीसरे प्रक्रम में अपनी विरह-व्यथा के बहाने नायिका षड्ऋतु वर्णन करने लगती है । सम्पूर्ण षड्ऋतु वर्णन सुनकर पथिक प्रस्थान करने को उद्यत होता ही है कि सहसा मोड़ पर विरहिणी को अपना पति दिखायी पड़ता है । श्रोताओं और पाठकों के प्रति शुभाशंसा के साथ काव्य की समाप्ति होती है ।

सन्देश-रासक एक मधुर काव्य है । इसमें सब मिलाकर 22 प्रकार के छन्दों का प्रयोग हुआ है जिनमें सर्वाधिक संख्या रास-छन्दों की है । सन्देश-रासक की भाषा, जैसा कहा जा चुका है, परवर्ती अपभ्रंश है । यह परवर्ती अपभ्रंश, ग्राम्य-अपभ्रंश के निकट थी और हिन्दी की बोलियों का आभास देने लगी थी । अतः यह स्वाभाविक है कि सन्देशरासक पर जितना अधिकार अपभ्रंश का हो, उतना ही हिन्दी का भी ।

नरपति नाल्ह

नरपति नाल्ह आदिकालीन काव्य का एक कृती कवि है और उसका 'बीसलदेव रासो' हिन्दी की मुक्तक काव्य-परम्परा का प्रतिनिधि काव्य । आदिकाल के गेय काव्य साहित्य में बीसलदेव रासो की चर्चा अत्यन्त सम्मानपूर्वक की जाती है । बीसलदेव रासो प्रेमाख्यानक काव्य परम्परा की कोटि में परिगणित किया जाता है । कवि ने बीसलदेव रासो में जिस प्रोषितपतिका का वर्णन किया है, वह सन्देश-रासक और ढोला-मारू-रा-दोहा की प्रोषितपतिका की प्रतिवेशिनी जान पड़ती है । यह शृंगार रस का मनोरम काव्य है ।

नरपति नाल्ह कौन था ? इस संबंध में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता । उसने अपने रासो में बारम्बार स्वयं को व्यास कहा है । अनुमान किया गया है कि नरपति भाट था । नरपति उसका नाम था और नाल्ह उसका अल्ल । अधुनातन खोजों से यह पता चला है कि नरपति नाल्ह, बीसलदेव रासो के नायक बीसलदेव (विग्रहराज चतुर्थ) का समकालीन था । नरपति बहुत पढ़ा-लिखा तो नहीं था, किन्तु वह बड़ा सवेदनशील और सूझबूझवाला कवि था । लगता है, उसने अपने रासो की सारी कथा गा-गाकर सुनायी थी, जो अपने माधुर्य के कारण जनता का कण्ठहार बन गयी । बीसलदेव रासो की सारी कथा चार खण्डों में विभाजित है । प्रथम

खण्ड में सांभर के राजा बीसलदेव का मालवराज भोज परमार की पुत्री राजमती से विवाह होने का आख्यान वर्णित है । द्वितीय खण्ड में बीसलदेव अपनी पत्नी से रूठ जाता है और घर-बार छोड़कर उड़ीसा की ओर चला जाता है । तृतीय खण्ड राजमती के विरह-वर्णन से सम्बद्ध है और यहां कवि को नायिका के विरह-वर्णन के मिस बारहमासे का विस्तृत चित्रण का अवसर मिल जाता है । इसी खण्ड में बीसलदेव का उड़ीसा से वापस लौटने का उल्लेख है । चतुर्थ खण्ड में भोज अपनी बेटा को घर वापस ले जाता है । कालान्तर में बीसलदेव ससुराल जाकर अपनी पत्नी को विदा कराकर चित्तौड़ लौट आता है ।

बीसलदेव रासो में शृंगार रस की प्रधानता है । जहाँ कहीं नायक के शौर्य आदि गुणों का उल्लेख हुआ भी है वह भी शृंगार-मण्डित ही है ।

बीसलदेव रासो में कवि ने अपने काव्य की रचना-तिथि का उल्लेख करते हुए लिखा है —

बारह सौ बहोतरा मझारि, जेठ बदी नवमी बुधवारि ।

नाल्ह रसायण आरंभई, सारदा उठी ब्रह्मा विचारि ॥

आचार्य शुक्ल ने “बहोतरा” को द्वादशोत्तर का रूपान्तर माना है और यह मन्तव्य प्रकट किया है कि संवत् 1212 में ज्येष्ठ की नवमी बुधवार को इस ग्रंथ का निर्माण हुआ । इसकी पुष्टि बीसलदेवकालीन शिलालेखों से भी हो जाती है पर अन्य विद्वान् आचार्य शुक्ल के इस निर्णय पर आपत्ति करते हैं । डॉ. रामकुमार वर्मा बीसलदेव का समय संवत् 1058 मानते हैं । पं. गौरीशंकर हीराचंद ओझा के अनुसार बीसलदेव का समय संवत् 1030 से 1056 तक है । मिश्र बन्धुओं के अनुसार बीसलदेव का रचनाकाल 1220 और लाला सीताराम के अनुसार 1272 है । बीसलदेव की भाषा का संकालिक अध्ययन करने के उपरान्त डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा मोतीलाल मेनारिया बीसलदेव रासो को संवत् 1545 से सं. 1560 के बीच लिखा हुआ काव्य मानते हैं । डॉ. माताप्रसाद गुप्त ने बीसलदेव रासो का रचनाकाल 14वीं शती माना है और डॉ. विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने 16वीं-17वीं शती । वास्तव में काव्य में प्रयुक्त वर्तमानकालिक क्रिया के प्रयोग के आधार पर नरपति नाल्ह को बीसलदेव का समसामयिक सिद्ध करना पूर्णतः वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता ।

बीसलदेव रासो की भाषा एक ओर अपभ्रंश का रूप लिये हुए है और दूसरी ओर हिन्दी की ओर झुकती जान पड़ती है । इसे आचार्य शुक्ल ने पिंगल की रचना माना है । बीसलदेव रासो उर्दू-फारसी के शब्दों का व्यवहार करनेवाली रचना है । लगता है कि नरपति नाल्ह के समय तक कवि अपभ्रंश की शुद्धता और शास्त्रीयता का मोह छोड़ चुके थे और उसमें प्रादेशिक बोलियों का मिश्रण करने लगे थे । भाषा के तत्कालीन रूप का अध्ययन करने के लिए बीसलदेव रासो एक महत्त्वपूर्ण कृति है । सन्देश-रासक के विषय बीसलदेव रासो में एक ही छन्द का प्रयोग हुआ है । यह केदार राग में गेय है और नृत्य-गीत के योग्य है ।

वास्तव में अपभ्रंश और हिन्दी के संक्रमणकालीन साहित्य का अध्ययन अपनी परम्परा को जानने के लिए तो आवश्यक है ही, अपने समकालीन भाषा तेवरों को समझने के लिए भी उपयोगी है । जैसे आज से एक हजार वर्ष पूर्व अपभ्रंश अपनी अपभ्रंशता छोड़कर सामान्य लोक में प्रचलित भाषा की ओर झुक रही थी, ठीक वैसे ही आज की परिनिष्ठित हिन्दी का आग्रह रचनाकारों के बीच शिथिल होता जा रहा है । मैला आंचल, नेताजी कहिन, जिन्दगीनामा, मैयादास की पाडी में जिस

आंचलिकता का आग्रह किया जा रहा है वह पुनः परिनिष्ठित भाषा के लोकोन्मुखी होने की सूचना है । लगता है अद्दहमाण और नरपति नाल्ह जैसे कवियों से परिनिष्ठित भाषा के लोकभाषाकरण का जो चक्र प्रारम्भ हुआ था, वह इन एक हजार वर्षों में पूर्ण हो चुका है और हिन्दी लोक-भाषा-करण के एक नये चक्र के प्रारम्भ के संकेत दे रहा है । इस प्रवृत्ति को रोकना संभव नहीं है। हिन्दी सदैव से लोक की भाषा रही है, वह निरन्तर अपने लिखितरूप की तुलना में अपने वाचिक-रूप को वरीयता देती रही है । अद्दहमाण और नरपति नाल्ह वास्तव में हमारी वाचिक परम्परा के ही कवि हैं । उनके काव्य का अध्ययन एक भाषिक चक्र के समारम्भ और अवसान को समझने के लिए यह महत्त्वपूर्ण है ।

अपभ्रंश काव्य का छंदोविवेचन

• डॉ. विनीता जोशी

गद्य की अपेक्षा पद्य की सम्प्रेषणीयता अधिक मुखर होती है, कारण है, काव्य में छंद और लय का योग रहता है । इसके अतिरिक्त हृदयतत्त्व के साथ तादात्म्य भी शीघ्र हो जाता है । छंद भावों को आच्छादित कर उनके सौन्दर्यवर्द्धन में सहायक होते हैं । उसका लयात्मक वैशिष्ट्य सम्प्रेषणीयता व काव्यानन्द दोनों की अभिवृद्धि करता है अतः छंद काव्य का आवश्यक उपादान है ।

छंद दो प्रकार के होते हैं - (1) वर्णिक, (2) मात्रिक । प्रत्येक छंद में वर्णों या मात्राओं की संख्या निश्चित रहती है । गति-यति व गुरु-लघु का क्रम भी निर्धारित रहता है । यति एक संगीतात्मक विराम है । मात्राओं के घटने-बढ़ने से आद्यन्त एक लय व्याप्त रहती है । छंद को पहचानने में यही लय सहायक होती है ।

छंद की दृष्टि से अपभ्रंश साहित्य पर्याप्त समृद्ध है । अधिकांश हिन्दी छंदों का मूल अपभ्रंश के छंदों में देखा जा सकता है । अपभ्रंश के छंदों पर लोकभाषा के छंदों का प्रभाव है । ये लय-तालबद्ध, गेय और नाद-सौन्दर्य से परिपूर्ण हैं । अपभ्रंश में वर्णिक और मात्रिक दोनों प्रकार के छंद प्रयुक्त हुए हैं । अन्तर्यमक की योजना अपभ्रंश-छंदों की उल्लेखनीय विशेषता है ।

अपभ्रंश-प्रबन्ध-काव्य की एक मौलिक विशेषता है — सधि-कड़वक शैली । इसके अन्तर्गत तीन प्रकार के छंदों का प्रयोग किया जाता है — कड़वक का मुख्य छंद, आरम्भक और अन्त का ध्रुवक अथवा घत्ता । सोलहमात्रिक छंद 'पद्मडिया' कड़वक के मुख्य छंद के रूप में निर्दिष्ट

है¹ परन्तु साहित्य में अन्य छंद अडिल्ला, वदनक, पारणक आदि भी प्रयुक्त हैं । अधिकांशतः चार पदडिया मिलकर एक कड़वक का निर्माण करते हैं और कड़वकों का समूह एक सन्धि का । कड़वक के अन्त में ध्रुवक या घत्ता की स्थिति अनिवार्य होती है । एक तरह से, यह कड़वक की समाप्ति का भी सूचक है । मात्राओं के आधार पर इसके अनेक भेद मिलते हैं । मुक्तक-काव्य के लिए दोहा व पद प्रयुक्त हुए ।

अपभ्रंश-काव्य में प्रयुक्त छंदों का परिचय यहाँ प्रस्तुत है — आदि में मात्रिक छंदों का तदुपरान्त वर्णिक छन्दों का और अन्त में घत्ता छन्दों का ।

मात्रिक

मात्रिक छंद उन छंदों को कहा जाता है जिनमें मात्राओं की संख्या निर्धारित होती है और मात्राओं के आधार पर जिनके लक्षणों को पुष्ट किया जाता है । गुरु की दो व. लघु की एक मात्रा परिगणित की जाती है । इसके भी फिर तीन भेद किये जाते हैं — सममात्रिक, अर्द्धसममात्रिक और विषममात्रिक ।

1. पदडिया

'पदडिया' दो अर्थों को ध्वनित करता है । 'पदडिया' एक छन्द-विशेष का नाम भी है² और दूसरी ओर एक जाति के साधारणतया सभी छन्दों की सूचक संज्ञा भी, जो सोलह मात्रिक हों और कड़वक के मुख्य छंद के रूप में प्रयुक्त होते हों ।³ संभवतः इसीलिए सोलहमात्रिक चरणों-वाले छंदों से निर्मित काव्य को पदडिया-बन्ध कहा जाने लगा । पदडिया में सोलह-सोलह मात्रा के चार चरण होते हैं अन्त जगण के साथ । उदाहरण -

(1) जसु केवलणाणे जगुगरिदु, करपल-आमलु व असेसदिदु ।

तहो सम्मइ जिणहो पयारविंद, वदेप्पिणु तह अवर वि जिणिंद ॥

- सुदसणचरिउ - 1.1.11.12

— जिनके केवलज्ञान में यह समस्त महान जगत हस्तामलकवत् दिखाई देता है, ऐसे सन्मति जिनेन्द्र के चरणारविंदों तथा शेष जिनेन्द्रों की भी वन्दना करके ।

(2) सुकवित्तै ता हउँ अप्पवीणु, चाउ वि करेमि कि दविण-हीणु ।

सुहडत्तु तह व दुँ गिसिद्ध, विहो वि हउँ जस विलुद्ध ॥- वही 1.2.1-2

— सुकवित्व में तो मैं अप्रवीण हूँ और धनहीन होने के कारण मैं त्याग भी क्या कर सकता हूँ ? तथा सुभटत्व तो दूर से ही निषिद्ध है । इस प्रकार साधनहीन होते हुए भी मुझे यश का लोभ है ।

(3) जसु रूउ णियंतउ सहसणेत्तु, हुअ विभियमणु णउ तित्ति पत्तु ।

जसु चरणगुट्टै सेलराइ, टलटलियउ चिरजम्माहिसेइ ॥- वही 1.1.5-6

— जिनके रूप को देखते हुये इन्द्र विस्मित मन हो गया और तृप्ति को प्राप्त न हुआ; जिनके जन्माभिषेक के समय चरणांगुष्ठ से शैलराज सुमेरु भी चलायमान हो गया ।

(4) ओसरिय सीह जग्गिय फणिंद, उद्धसिय ज्जत्ति णहँ ससि-दिणिंद ।

उत्तसिय ल्हसिय गुरु दिक्करिद, आसकिय विज्जाहर सुरिद ॥- वही 1.1.9-10

— सिंह दूर हट गए, फणीन्द्र जाग उठे, आकाश में चन्द्र और सूर्य तत्काल हँस उठे, महान दिग्गज उत्त्रस्त और लज्जित हो गए, विद्याधर और सुरेन्द्र आतंकित हुए ।

(5) उज्जाणवणु व उतुगसालु, उल्लसिय-सोण-पेसल-पवालु ।

तियसिंदु व विबुहयणहों मणिट्ट, रंभापरिंभिउ सईं गरिट्ट ॥- सुदसणचरिउ, 1.4

- वह नगर ऊँचे शालवृक्षों तथा उल्लसित लाल सुन्दर कोपलोवाले उद्यानवन के सदृश ऊँचे कोटसहित, रक्तमणि व सुन्दर प्रवालों से चमकता था । वह बुद्धिमानों के लिए उसी प्रकार प्यारा था जैसा कि देवेन्द्र देवों को प्यारा है, रंभा से आलिंगित है तथा स्वयं गरिमा को प्राप्त है ।

(6) वम्मह जिह रइपीईसमिद्ध, णहयल परिघोलिरमयरचिंधु ।

वम्मह जिह णिम्मलधम्मसज्जु, उप्फुल्लिय कुसुमसरु मणोज्जु ॥ - वही

- वहाँ रति और प्रीति की खूब समृद्धि थी, तथा आकाश में वहाँ की मकराकृति ध्वजाएँ फहरा रही थी; अतएव जो कामदेव के समान दिखायी देता था, जो रति और प्रीति नामक देवियों से युक्त है और जिसकी ध्वजा मकराकार है वह नगर निर्मल धर्म से सुसज्जित तथा प्रफुल्लित पुष्पोवाले मनोज्ञ सरोवरों के द्वारा उस मन्मथ के समान था ।

2. सिंहावलोक

यह भी 16 मात्रावाला छन्द है लेकिन जहाँ पद्धडिया में अन्त में जगण होता है वहाँ सिंहावलोक में अन्त में सगण ।

(1) ज अहिणव-कोमल-कमल-करा, बलिमण्डएँ लेवि अणङ्गसरा ।

स-विमाणु पवण-मण-गमण-गउ, देवहूँ दाणवहु मि रणें अजउ ॥ -पउमचरिउ, 68.9

- अभिनव, सुन्दर, कोमल हाथोंवाली अंगसरा को वह विद्याधर जबर्दस्ती ले गया । पवन और मन के समान गतिवाले विमान में बैठा हुआ वह देवताओं और दानवों के लिए अजेय था ।

(2) त चक्काहिवइ-लद्ध-पसरा, विज्जाहर पहरण-गहिय-करा ।

कोवगिग-पलित्त-फुरिय-वयणा, दट्टाहर भू-भङ्गुर णयणा ॥ - वही

- चक्रवर्ती के आदेश से विद्याधर हाथ में अस्त्र लेकर दौड़े । उनके मुख क्रोध की ज्वाला से चमक रहे थे । उनके अधर चल रहे थे, उनकी भीहिं और नेत्र टट्टे थे ।

(3) विंधति जोह जलहरसरिसा, वावल्लभल्लकणिय वरिसा ।

फारक्क परोप्परु ओवडिया, कोताउह कोतकरहिँं भिडिया ॥ - ज. सा. च., 6.6

- योद्धा लोग जलधरों के समान बल्लभ, भालो व बाणों की वर्षा करते हुए (परस्पर को) बीध रहे थे । फारक्क को धारण करनेवाले एक-दूसरे पर टूट पड़े, और कुंतवाले कुन्त धारण करनेवाले प्रतिपक्षियों से भिड़ पड़े ।

(4) दूरयरोसारिय रयपसरे, परिकलिएँ परोप्परु अप्प-परे ।

संवाहिय संदण भयरहिया, पच्चारयत पहरहिँं रहिया ॥ - वही

- रज का प्रसार दूरतर अपसृत हो जाने पर, परस्पर अपने पराये को पहचान कर, (शत्रुपक्ष के) रथियों को प्रहारों से आह्वान करते हुए, निर्भय होकर रथ चलाये गये ।

- (5) थिर थक्क पडिच्छइ हत्थिहडा, धावतिहि पडिगयघडहि झडा ।
 वाहति हणति वाह कुमरा, खणखणखणत करवालकरा ॥ - वही
- एक ओर की हस्तिसेना स्थिरतापूर्वक स्थित रहकर, दौड़कर आते हुए शत्रुगजों से झड़प की प्रतीक्षा कर रही थी । खणखण करते हुए करवाल हाथों में लेकर राजकुमार अश्वों को चला रहे थे व (शत्रुसेना के अश्वों को) मार रहे थे ।
- (6) भवयत्तु जट्टु तुहँ पवरभुओ, लहुवारउ तहिँ भवएउ हुओ ।
 तवचरणु करिवि आउसि खइए, उप्पण्ण भरेवि सगँ तइए ॥ - ज. सा. च., 3.5
- तू जेठा भाई भवदत्त था और तेरा छोटा-भाई उत्तम भुजाओंवाला भवदेव था । तपश्चरण करके आयुष्य क्षय होने पर मरकर तीसरे स्वर्ग में उत्पन्न हुए ।

3. पारणक

यह 15 मात्रिक छन्द है । पदद्विधा और इसमें अधिक अन्तर नहीं है । केवल अन्त नगण आने पर वह पारणक बन जाता है । सामान्य क्रम 4+4+4+3 । उदाहरण -

- (1) पणवेप्पिणु संभवसामियहों, तइलोक-सिहर-पुर-गामियहों ।
 पणवेप्पिणु अजिय जिणेशरहों, दुज्जय-कन्दप्प-दप्प-हरहों ॥— पउमचरिउ 71.1
- त्रिलोक शिखर पर स्थित मोक्षपुर जानेवाले संभवस्वामी को प्रणाम करता हूँ । दुर्जेय काम का दर्प हरनेवाले अजित जिनेश्वर को प्रणाम करता हूँ ।
- (2) पणवेप्पिणु अहिणन्दण-जिणहों, कम्मट्ट-दुट्ट-रिउ-णिज्जिणहों ।
 पणवेप्पिणु सुमइ-तित्थङ्करहों, वय-पञ्च-महादुद्धर-धरहों ॥ - वही
- आठ कर्मरूपी दुष्ट शत्रुओं को जीतनेवाले अभिनन्दन जिन को नमस्कार करता हूँ । महाकठिन पौंच महाव्रतों को धारण करनेवाले सुमति तीर्थंकर को प्रणाम करता हूँ ।
- (3) बुहयण सयम्भु पइँ विण्णवइ, मइँ सरिसउ अण्णु णाहिँ कुकइ ।
 वायरणु कयावि ण जाणियउ, णउ वित्ति सुत्तु वक्खाणियउ ॥ - वही 1.3
- बुधजनो, यह स्वयंभू कवि आप लोगों से निवेदन करता है कि मेरे समान दूसरा कोई कुकवि नहीं है । कभी भी मैंने व्याकरण को न जाना, न ही वृत्तियों और सूत्रों की व्याख्या की ।
- (4) णउ पच्चाहारहों तत्ति किय, णउ सधिहें उप्परि बुद्धि थिय ।
 णउ णिसुअउ सत्त विहत्तियउ, छव्विहउ समास-पउत्तियउ ॥ - वही
- प्रत्याहारों में भी मैंने संतोष प्राप्त नहीं किया । सधियों के ऊपर मेरी बुद्धि स्थिर नहीं । सात विभक्तियों भी नहीं सुनी । छह काल और दस लकार नहीं सुने ।
- (5) वीरहों पय पणविवि मंदमइ, सविणयगिरु जंपइ वीरु कइ ।
 जो परगुणग्रहण कज्जे जियइ, सिविणे वि न दोसु तेसु नियइ ॥ - जंबुसाम्बिचरिउ 1.2
- वीर भगवान के चरणों को प्रणाम करके मंदमति धीर कवि विनयपूर्वक कहते हैं - जो दूसरों के गुणग्रहण करने के लिए ही जीवित अर्थात् जाग्रत व उद्यत रहता है और स्वप्न में भी लेशमात्र दोष नहीं देखता ।

(6) सो सुयणु सहावे सच्छमइ, गुणदोस परिकखहि नारुहइ ।

गुण झपइ पयडइ दोसुखलु, अब्भासे जाणतो वि खलु ॥ - वही

- ऐसा स्वभाव से स्वच्छमति सज्जन (किसी के) गुण-दोषों की परीक्षा में अयोग्य होता है - अर्थात् उस ओर उसकी प्रवृत्ति नहीं जाती, परन्तु दुर्जन अपने अभ्यास (आदत) दोष से जानता हुआ भी दूसरों के गुणों को तो ढँकता है और झूठे दोष को प्रकाशित करता है ।

4. वदनक

यह 16 मात्रिक छंद है । गणयोजना सामान्यतः 6+4+4+2 है । अन्तिम दो मात्राएँ लघु होनी चाहिए । उदाहरण —

(1) रामे जणणि ज जें आउच्छिय ।

णिकु णिच्चेयण तक्खणे मुच्छिय ॥ - पउमचरिउ, 23.4

- राम ने जब मौँ से इस प्रकार पूछा तो वह तत्काल अचेतन होकर मूर्च्छित हो गयी ।

(2) चमरुक्खेवेहिं किय पडवायण ।

दुक्खु-दुक्खु पुणु जाय सचेयण ॥ - वही

- चमर धारण करनेवाली स्त्रियों ने हवा की । बड़ी कठिनाई से वह सचेतन हुई ।

(3) णीलक्खण णीरामुम्माहिय ।

पुणि वि सदुक्खउ मेत्तिय धाहिय ॥ - वही

- लक्ष्मण और राम के बिना व्यथित वह दुखी होकर पुकार मचाने लगी ।

(4) पई विणु को हय-गयहँ चडेसइ ।

पई विणु को झिन्दुऐण रमेसइ ॥ - वही

- तुम्हारे बिना अश्व और गज पर कौन चढ़ेगा ? तुम्हारे बिना कौन गेद से खेलेगा ?

(5) पई विणु को पर-बलु भज्जेसइ ।

पई विणु को मई साहारेसइ ॥ - वही

- तुम्हारे बिना कौन शत्रु-सेना का नाश करेगा ? तुम्हारे बिना कौन मुझे सहारा देगा ।

(6) जिणु अविउलु अविचलु वीसत्थउ ।

थिउ छम्मासु पलम्बिय-हत्थउ ॥ प.च. 2.12

- जिन भगवान, छह माह तक हाथ लम्बे किये हुए अविकल, अविचल और विश्वस्त रहे ।

5. मदनावतार

यह 20 मात्राओंवाला छंद है । सामान्यतया गण योजना 5+5+5+5 है । उदाहरण —

(1) के वि सण्णद्ध समरङ्गणे दुज्जया,

के वि भामण्डलाइच्च - चन्ददया ।

के वि सिरि-सह्व - आवरिय - कलस-दया,

के वि कारण्ड-करहंस कोञ्चदया ॥

प. च. 60.5

- युद्ध में अजेय कितने ही योद्धा तैयार होने लगे । कितने ही योद्धाओं के ध्वजों पर, भामण्डल, आवित्य और चन्द्रमा के चिह्न अंकित थे । कितनों के ध्वजों पर श्री और शंखों से ढके हुए कलश अंकित थे । कितने ही ध्वजों पर हंस, कलहंस और क्राँच पक्षी अंकित थे ।
- (2) के वि अलियल्ल - मायङ्गु - सीहद्धया,
के वि खर-तुरय-विसमेस-महिस-द्धया ।
के वि सस सरह-सारङ्ग-रिञ्छ-द्धया,
के वि अहि-णराल-मग-मोर गरुडद्धया ॥ - वही
- कितने ही ध्वजाओं पर मातंग और सिंह अंकित थे । कितनी ही पताकाओं पर खर, तुरग, विषमेष और महिष अंकित थे । किन्हीं ध्वजों पर शश, शरभ, सारंग और रीछ अंकित थे । किन्हीं ध्वजों पर साप, नकुल, मृग, मोर और गरुड अंकित थे ।
- (3) के वि सिव-साण-गोमाउ-पमय-द्धया,
के वि घण-विज्जु-तरु-कमल-कुलिसद्धया ।
के वि सुसुअर-करि-मयर-मच्छ-द्धया,
के वि णङ्कोहर-ग्गाह-कुम्भद्धया ॥ - वही
- किन्हीं ध्वजों पर शिव, शाण शृगाल और बन्दर अंकित थे । किन्हीं ध्वजों पर सुसुकर, हाथी, मगर और मछली अंकित थे । किन्हीं पताकाओं में नक्र, ग्राह और कच्छप अंकित थे ।
- (4) णील-णल-णहस-रडमन्द-हत्युब्भवा,
जम्बु-जम्बुक्क-अम्भोहि-जव-जम्बवा ।
पत्थ उप्पित्थ-पत्थार-दप्पुद्धरा,
पिहल-पिहकाय-भूमङ्ग-उब्भङ्गुरा ॥ - वही
- नील, नल, नहुष, रतिमंद, हस्तिउद्भव, जम्बु, जम्बूक्क, अम्बोधि, जव, जम्बव, पत्थक, पित्थ, प्रस्तार, दर्पोद्धर, पृथुल, पृथुकाय, भूमंग और उद्भंगुर ।
- (5) रम्म महा ज च पुण्णाय - णाएहिं,
कुसुमिय - लया - वेल्लि - पल्लव - णिहाएहिं ।
कप्पूर - कंकोल - एला - लवङ्गेहिं,
महुमाहवी - माहुलिङ्गी - विडङ्गेहिं ॥ - प. च. 3.1
- जो महान उद्यान, खिली हुई लताओं, पल्लवों और बेलों के समूह से युक्त था । पुन्नग, नाग-वृक्षों तथा कर्पूर, कंकोल, एला, लवंग, मधुमाधवी, मातुलिंगी, विडंग ।
- (6) भुव - देवदारुहिं रिट्टेहिं चारेहिं,
कोसम्भ - सज्जेहिं कोरण्ट - कोज्जेहिं ।
अच्चइय जूहीहिं जासवण - मल्लीहिं
केयइए जाएहिं अवरहि मि जाईहिं ॥ - प. च., 3.1
- भूर्ज, देवदारु, रिट्ट, चार, कौशम्भ, सद्य, कोरण्ट, कोज, अच्चइय, जूही, जासवण, मल्ली, केतकी और जातकी वृक्षों से रमणीय था ।

शालभजिका

यह 24 मात्रावाला समद्विपदी है । यति 12 पर । उदाहरण -

(1) ताव तेत्यु णिज्झाइय वावि असोय-मालिणी ।

हेमवण्ण सपओहर मणहर णाई कामिणी ॥ - प. च. 42.10

- तब उसने अशोक-मालिनी नाम की बावडी देखी, सुनहले वर्ण की वह जैसे सपयोधर (जल, स्तन धारण करनेवाली) सुन्दर कामिनी हो ।

(2) चउ-दुवार-चउ-गोउर-चउतोरण-रवणिया ।

चम्पय-तिलय-बउल-णारङ्ग-लवङ्ग-छणिया ॥ - वही

- वह चार द्वारों और गोपुरों से सुन्दर थी, चम्पक, तिलक, बकुल, नारंग और लवंग वृक्षों से आच्छादित थी ।

(3) तहिँ पएसैं वइदेहि ठवेण्णिणु गउ दसाणणो ।

झिज्जमाणु विरहेण विसंथलु विमणु दुम्मणो ॥ - वही

- उस प्रदेश में सीतादेवी को प्रतिष्ठित कर दशानन चला गया, विरह से क्षीण विसंस्थुल विमन और अत्यन्त दुर्मन ।

(4) मयण-वाण-जज्जरियउ जरिउ दुवार-वारओ ।

दूइआउ आवन्ति जन्ति सयवार-वारओ ॥

- कामदेव के बाणों से जर्जर और ज्वरयुक्त जिसे निवारण करना कठिन है । सैकड़ों बार दूतियाँ आती हैं और जाती हैं ।

(5) वयणएहिँ खर-महुरेहिँ मुहु सुसइ विसूरए ।

छोहेँ छोहेँ णिवडन्तएँ जूआरो व्व जूरए ॥ - वही

- कठोर और मधुर शब्दों से उसका मुख सूखता है, वह खिन्न होता है, क्षोभ-क्षोभ में वह गिरता है, जुआरी की तरह पीड़ित होता है ।

(6) सिरु धुणेइ कर मोडइ अङ्गु वलेइ कम्पए ।

अहरू लेवि णिज्झायइ कामसरेण जम्पए ॥ - वही

- वह सिर धुनता है, हाथ मोड़ता है, शरीर मोड़ता है, कौपता है । अधर पकड़कर ध्यानमग्न हो जाता है । काम के स्वर में बोलता है ।

विलासिनी

सोलह मात्रिक समद्विपदी, अन्त रगण । उदाहरण -

(1) ताव तेत्यु भीसावणे वणे ।

एक्कमेक्क-हक्कारणे रणे ॥ - पउमचरिउ, 40.2

- तब इस भयंकर वन में, जिसमें एक-दूसरे को हंकारा जा रहा है ।

(2) छत्त-दण्ड सय-खण्ड-खण्डिए ।

हड्ड-रुण्ड-विच्छड्ड-मण्डिए ॥ - वही

- छत्रों और दण्डों के सौ-सौ टुकड़े हो चुके हैं, जो हड्डियों और घड़ों के समूह से आच्छादित हैं ।

- (3) तर्हि महाहवे घोर-दारुणे ।
विदुः वीर पहरन्तु साहणे ॥ - वही
— ऐसे उस घोर महायुद्ध में सेना के भीतर वह वीर प्रहार करता हुआ दिखायी दिया ।
- (4) किं मरण दूषणेण सम्बुणा ।
सायरो किमोह विन्दुणा ॥
— दूषण या शम्बू के मर जाने से क्या ? बूँद से समुद्र का क्या होता है ।
- (5) इन्दनील-वेरुलिय-णिम्मल ।
पोमराय-मरगय-समुज्जल ॥ - प. च. 55.5
— इन्द्रनील और वैदूर्य से निर्मल पचराग और मरकत मणियों से ।
- (6) वर-पवाल-माला-पलम्बिर ।
मोत्तिएक-सुम्बुक्क-सुम्बिर ॥ - वही
— उत्तम मँगों की माला से लम्बमान और झूमरों से सुम्बिर था वह भवन ।
8. चप्पड

मात्रा - 20, अन्त ल ल । उदाहरण -

- (1) सूरुगमणहौँ लरिगवि तेरह घडियई,
अवरु वि पंचासहिं तो फलहहिं चडियई ।
होसइ मिहणलगु वहुवरमणदिहियरु,
तं णिसुणेवि वयणु गउ णियघरें वणिवरु । - सु. चरिउ, 5.4
— सूर्य के उदय होने से तेरह घड़ी और पचास पल चढ़ जाने पर मिथुन लग्न होगा, जो वर-वधु के मनों को सुख उपजानेवाला है । ज्योतिषी की यह बात सुनकर सेठ अपने घर चला गया ।
- (2) लहु विवाहसामगि असेस पउजिय,
बधव सयण इट्टु के के णउ रंजिय ।
दोहिं वि घरहिं चारु मंडउ विरइज्जइ,
दोहिं वि घरई असमु तोरणु उब्भिज्जइ । - वही
— उसने शीघ्र ही विवाह की समग्र सामग्री एकत्रित की । बांधव, स्वजन व इष्टमित्र कौन ऐसे थे जो प्रसन्न नहीं हुए । दोनों घरों में सुन्दर मण्डप रचे गये । दोनों घरों में अनुपम तोरण लगाए गए ।
- (3) दोहिं वि घरहिं घुसिणच्छइउल्लउ दिज्जइ,
दोहिं वि घरहिं रयणरंगावलि किज्जइ ।
दोहिं वि घरहिं धवलु मंगलु गाइज्जइ,
दोहिं वि घरहिं गहिरु तूरउ वाइज्जइ । - वही

- दोनों ही घरों में केशर की छटाएँ दी गई । दोनों ही घरों में रत्नों की रंगावलि की गई । दोनों ही घरों में धवल-मंगल गान होने लगे । दोनों ही घरों में गंभीर तूर्य बजने लगा ।

(4) दोहिं वि घरहिं विविह आहरणु लइज्जइ,
दोहिं वि घरहिं लइहतरुणिहिं णच्चिज्जइ ।

सच्चुवहाणु एह णारिहिं दिहिगारउ,
कलह दुह जामाइउ तूरू पियारउ ।

- वही

- दोनों ही घरों में विविध आभरण लिए जाने लगे । दोनों ही घरों में सुन्दर तरुणियों के नृत्य होने लगे । यह उपाख्यान (कहावत) सत्य ही है कि नारियों को कलह, दूध, जामाता और तूर्य प्रसन्नकारी और प्यारा होता है ।

9. गाहा (गाह)

मात्राएँ-27, 12+15, 12+15 । प्रथम व तृतीय यतियौ शब्द के बीच में । उदाहरण -

(1) मयरद्धयनच्चु नडतिउ जंबुकुमारो भेल्लियउ ।

वहुवाउ ताउ ण दिट्टउ कट्टमयउ वाउल्लियउ । - ज. सा. च. 9.1.5-6

- मकरध्वज का नाच नाचती हुई उन वधुओं को जंबुकुमार ने अपने संपर्क में लायी हुई काष्ठ की पुतलियों के समान देखा ।

(2) उवयागउ भावसरूवे भुंजइ कम्मासएणविणु ।

संसारा भावहोँ कारणु भाउ जि छड्डिय परदविणु ॥ - वही, घत्ता

- ज्ञानी इस परिस्थिति को उदयागत भावों (कर्मों) के अनुसार (नवीन) कर्माश्रव के बिना, परद्रव्य (में आसक्ति) को छोड़कर भोगता है, और यही भाव (विवेक) संसाराभाव अर्थात् मोक्ष का कारण है ।

(3) पिय हालियधणहडतुल्लउ वंछइ किच्छेँ तउ करिवि ।

सदेहगउ सुरनारिउ आयउ तुम्हइँ परिहरिवि ॥ - वही, 9.4 घत्ता

- प्रियतम धनदत्त हाली के समान है, (क्योंकि) यह तुम सबको छोड़कर बहुत कष्ट से तप करके ऐसी सुरनारियों की वांछा करता है, जिनकी प्राप्ति में पूर्ण सन्देह है ।

(4) निंसिदिवससत्त धाराहरु बरिसइ पूरियधरणियलु ।

संचारु न लब्भइ सलिले हुअ आदण्णउ जग सयलु ॥ - वही, 9.9 घत्ता

- सात रात-दिनों तक मेघ निरन्तर बरसता रहा और उसने धरातल को जल से पूर दिया । पानी के कारण संचरण (माग) मिलना भी कठिन हो गया और सारा जग व्याकुल हो गया ।

(5) गय अद्धरत्ति बोल्लतहँ तो वि कुमारु न भवें रमइ ।

तहिँ कालें चोरु विज्जुच्चरु चोरिवइ पुँँ परिभमइ ॥ - वही, 9.11 घत्ता

- (इस प्रकार) कथावार्ता करते-करते आधी रात बीत गयी, तो भी कुमार संसार में आसक्त नहीं हुआ । इसी समय विद्युच्चर नाम का चोर चोरी करने के लिए नगरी में भ्रमण कर रहा था ।

(6) इय पुत्त विओय कुढारे फाडेंवि खंडु खंडु कियउ ।

अंगारपुंजें सद्विण्णउ लवणु व सय सक्करुहियउ ॥ - वही, 9.15 घत्ता

- इस पुत्रवियोग के कुठार ने हृदय को फाड़कर खंड-खंड कर दिया है, और अंगार में डाले हुए लवण के समान शतशः विदीर्ण कर दिया है ।

10. खंडय

यह 13 मात्रिक सममात्रिक छंद है । अन्त में रगण आना चाहिए । उदाहरण -

(1) पहु तउ दसणकारण लहिवि वियप्पइं मे मण ।

सहैं तुम्हेहिं समुच्चय चिरभवि कहि मि परिच्चय ॥- ज. सा. च., 8.2 आरंभिक

- प्रभु आपके दर्शनों का हेतु प्राप्त कर मेरे मन में ऐसा विकल्प हुआ है कि आपके साथ कहीं पूर्व भव में विशिष्ट (प्रगाढ़) परिचय रहा ।

(2) सगच्चविउ मणोहरे, जायउ एत्थु जि पुरवरे ।

सो तुहैं जियसक्कदणो, अरुहयासवणिन्दणो ॥ - वही, 8.5

- वही तू स्वर्ग से च्युत होकर इस मनोहर सुन्दर व श्रेष्ठ नगर में अरुहदास वणिक् का इन्द्र को भी जीतनेवाला पुत्र हुआ है ।

(3) इय सोऊण मलहरो, बोल्डइ वयण गणहरो ।

ता वच्चसु सनिहेलण, पुच्छसु पिय मायाजण ॥ - वही, 8.6

- यह सुनकर वे (कर्म) मलनाशक गणधर बोले - 'तो फिर अपने घर जाओ और माता-पिताजनों से पूछो ।'

(4) चरमसरीरहों ते मण म करउ कि पि वियप्पण ।

आउच्छेप्पिणु परियण सेवसु वच्छ तवोवण ॥ - वही, 8.7

- रे वत्स ! तुझ चरमशरीरी को अपने मन में कोई विकल्प लाने की आवश्यकता नहीं है, अतः परिजनों से पूछकर तपोवन का सेवन करना ।

(5) इय संसारे ञ्ज पिय, निसणें वि जवणी जपिय ।

चउगइ दुक्ख नियामिणा, भणिय जंबूसामिणा ॥ - वही, 8.8

- इस संसार में जो प्रिय है, जननी के वैसे कथन को सुनकर, चारों गतियों के दुःख का नियमन करनेवाले जंबूस्वामी ने कहा ।

(6) ता तहिं मंडवें थक्कय, दिट्ठं सेट्ठिचउक्कय ।

तोरणदारपराइया तेहिं मि ते वि विहाइया ॥ - वही, 8.9

- तब (इन दोनों पुरुषों ने वहाँ जाकर) मंडप में बैठे हुए चारों श्रेष्ठियों को देखा, और तोरणद्वार पार करते ही वे दोनों भी उन श्रेष्ठियों के द्वारा देखे गये ।

11. दोहा

मात्रा 13,11; 13,11 अन्त ग ल । उदाहरण -

(1) जाणमि वणि गुणगणसहिउ परजुवईहिं विरत्तु ।

पर मह् अबुले हियवडउ णउ चितेइ परत्तु ॥ - सुदसणचरिउ 8.6.1-2

- मैं जानती हूँ कि वह वणिग्वर बड़ा गुणवान है और पराई युवतियों से विरक्त है ।
किन्तु हे माता ! मेरा हृदय और कहीं लगता ही नहीं ।

(2) देउल देव वि सत्थु गुरु, तित्थु वि वेउ वि कब्बु ।

बच्छु जु दीसै कुसुमियउ, इंधणु होसइ सब्बु ॥ - जोइंदु

- देवल (देवकुल), देव (जिनदेव) भी, शास्त्र, गुरु, तीर्थ भी, वेद भी, काव्य, वृक्ष जो कुसुमित
दिखायी पड़ता है, वह सब ईधन होगा ।

(3) पंचहैं णायकु वसिकरहु, जेण होति वसि अण्णु ।

मूल विणट्टइ तरुवरहैं, अवसई सुक्कहिं पण्णु ॥ - जोइंदु

- पौच (इंद्रियों) के नायक (मन) को वश में करो जिससे अन्य भी वश में होते हैं ।
तरुवर का मूल नष्ट कर देने पर पर्ण अवश्य सूखते हैं ।

(4) जो गुण गोवइ अप्पणा, पयडा करइ परस्सु ।

तसु हउँ कलि-जुगि दुल्लहहों, बलि किज्जउँ सुजणस्सु ॥ - हेमचन्द्र

- जो अपना गुण गोवे (छिपाए) और पराए का (गुण) प्रकट करे, कलियुग में दुर्लभ उस
सज्जन पर मैं बलि जाऊँ ।

(5) जीविउ कासु न वल्लहउँ, धणुपुणु कासु न इट्टु ।

दोण्णि वि अवसर निविडिअइं, तिण-सम-गणइ विसिट्टु ॥ - हेमचन्द्र

- जीवन किसे प्यारा नहीं ? धन किसे इष्ट नहीं ? (किन्तु) अवसर आ पड़ने पर विशिष्ट
(पुरुष) दोनों को ही तृण-सम गिनता है ।

(6) साहु वि लोउ तडप्फडइ, वड्डत्तणहो तणेण ।

वड्डप्पणु परि पाविअइ, हत्थि मोक्कलडेण ॥ - हेमचन्द्र

- सभी लोग बडप्पन के लिए तड़फड़ाते हैं, पर बडप्पन मुक्त हाथ (औदार्य) से मिलता
है ।

12. सारीय

20-मात्रिक छन्द, अन्त में गुरु लघु । उदाहरण -

(1) तिमिर णियच्छेवि पडिय गया तत्थ,

थिउ झाणजोएण सेट्टीसरो जत्थ ।

पणवति जपेइ लग्गी पयगम्मि,

जइ अत्थि जीवे दया तुम्ह धम्मम्मि ।

- सुदसणचरिउ 8.20

- अंधकार फैला देखकर पडिता वहाँ गई, जहाँ सेठों का अग्रणी सुदर्शन ध्यान योग में स्थित था । वह प्रणाम करते हुए उसके पैरों से लग गई और बोली - यदि तुम्हारे धर्म में जीवदया है ।
- (2) अणुरायवतीहैं बिदाणगत्तीहैं,
करि जीवरक्खा तुम रायपत्तीहैं ।
विरहाहिदुडीहैं हे सामि किं तेण,
णहि होइ जीवास मेलावमतेण ॥
- वही
- तो तुम उस अनुरागवती खिन्नगात्री राजपत्नी के जीव की रक्षा करो । हे स्वामी, जिसके द्वारा विरहाग्नि से जलती हुई स्त्री के जीवन की आशा न हो सके, उस मेलापक मंत्र से क्या लाभ ?
- (3) म चिराहि ए एहि उम्मीलणेत्ताई,
लह गपि आलिंगि सोमालगत्ताई ।
भणु कस्स तुट्ठो जिणो देसि णाणस्स,
लइ अज्ज जाय फल तुज्ज भाणस्स ॥
- वही
- अतएव देर मत करो । आओ, आओ, शीघ्र चलकर उस उन्मीलित नेत्र, सुकुमारगात्री का आलिंगन करो । भला कहो तो, जिनेन्द्र संतुष्ट होकर भी तुम्हें कौन-सी बात प्रदान करेगा ? लो, आज ही तुम्हारे ध्यान का फल तुम्हें मिल रहा है ।
- (4) तो महितलपत विज्जाहरिंदेण,
उक्खित्तहत्थेण ण वण करिंदेण ।
नवनिसियपहरणफडाडोयनाएण,
पंचमुहगुंजारसन्निहनिनाएण ॥
- जबुसामिचरिउ 5.14.6
- तब पृथ्वी पर ठोकर मारते हुए, बनैले हाथी के समान हाथ (पक्ष में सँड) उठाये हुए नाग के फणाटोप के समान नये शान दिये हुए शस्त्र को लिये हुए सिंह-गर्जन के समान निनाद करके उठते हुए ।
- (5) लइ लेहू लेहू ति आणत्तभिच्चेण,
उट्टंतसतेण संगरदइच्चेण ।
ता उट्टिया दुट्टदप्पिट्टबललट्ट,
हणु हणु भण्णाण खणराय स्सहसट्ट ।
- वही, 5.14.8
- उस संग्राम दैत्य के द्वारा अपने मृत्यों को यह आज्ञा दी जाने पर कि ले लो । ले लो । (पकड़ो ! पकड़ो !) बल में प्रधान (श्रेष्ठ बलशाली) अष्ट सहस्र दुष्ट व दर्पिष्ठ (गर्वीले) खेचर मारो-मारो, कहते हुए उठे ।
- (6) उगिगण्णकरवात्त स्थाण थक्केहिं,
नागत कोतेहिं भामत च्चेहिं ।
धणगुणनिवेसंत कइदंतवाणेहिं,
हंतुं समारद्ध अमुणिय प्पमाणेहिं ।
- जबुसामिचरिउ 5.14.10

- तलवारों को निकालकर और वार करने की स्थिति में आकर भालों को झुकाते हुए और चक्रों को घुमाते हुए, धनुष पर डोरी चढ़ाते हुए, बाणों को निकालते हुए, ऐसे अज्ञात प्रमाण (सहस्रों) भटों ने उसे मारने का उपक्रम किया ।

13. चन्द्रलेखा

मात्रा-24 (10+8+6), अन्तर्यमक की योजना । उदाहरण —

- (1) वलु वयणेण तेण, सहै साहणेण, संचल्लिउ ।

णाई महासमुद्द, जलयर-रउद्द, उत्थल्लिउ ॥ — पउमचरिउ 40.16.2

- इन शब्दों से, राम सेना के साथ यहाँ-वहाँ इस प्रकार चले जैसे जलचरों से रौद्र महासमुद्र ही उछल पड़ा हो ।

- (2) दिष्णाणद-भेरि, पडिवक्ख खेरि, खरवज्जिय ।

ण मयरहर-वेल, कल्लोलबोल, गलगज्जिय ॥ — वही, 40.16.3

- खर से रहित ? शत्रु को क्षोभ उत्पन्न करनेवाली आनन्दभेरी बजा दी गयी मानो लहरों के समूहवाली समुद्र की बेला ही गरज उठी हो ।

- (3) कथ्ह प्हेँ पयट्ट, दुग्घेट्ट-थट्ट, मयभरिया ।

सिँरे गुमगुमगुमन्त, - चुमचुमचुमन्त, चञ्चरिया ॥ — वही

- कहीं मद से भरी हुई, जिसके सिर पर भ्रमर गुनगुन और चुमचुम कर रहे हैं ऐसी गजघटा पथ पर चल पड़ी ।

- (4) कथ्हइ खिलिहिलन्त, हयहिलिहिलन्त, णीसरिया ।

चञ्चल-चडुल-चवल, चलवल्लय पवल, पक्खरिया ॥ — वही

- कहीं खिलखिलाते और हिनहिनाते हुए घोड़े निकलने लगे । चंचल, चटुल और चपल चल-वल्लय से प्रबल उन्हें कवच पहना दिये गये ।

- (5) एम पयट्ट सिमिरु, ण वहल तिमिरु, उद्धाइउ ।

तमलङ्कार-णयरु, णिमिसन्तरेण, संपाइउ ॥ — वही

- ऐसे पथ पर शिविर चला, मानो प्रचुर अन्धकार दौड़ा हो । वह उस तमलंकार नगर में एक पल के भीतर पहुँच गया ।

- (6) पिय-विरहेण रामु, अइ-खाम-खामु, झीणङ्गउ ।

पय-मग्गेण तेण, कन्तहैँ तणेण, ण लग्गउ ॥ — वही

- अत्यन्त क्षम राम प्रिया के विरह से क्षीण शरीर लेकर ऐसे लगते थे मानो कान्ता के उसी मार्ग से जा लगे हों ।

14. चारुपद

दस मात्रिक छंद, अन्त गुरु-लघु या लघु । उदाहरण —

- (1) भो सुहय इह जम्मैँ, णिपवित्ति जिण धम्मैँ ।

करिऊण आयासु, पाविहसि सुरवासु ॥ — सुदसणचरिउ, 8.25

— हे सुन्दर ! इस जन्म में तुम अति पवित्र जिनधर्म में प्रयास करके स्वर्गवास ही तो पाओगे ।

(2) किं तेण सोक्खेण, जं होइ दुक्खेण ।

लइ ताम पच्चक्खु, तुहँ मणि रइसुक्खु ।

- वही

— किंतु उस सुख से क्या लाभ जो दुःखपूर्वक प्राप्त हो ? इसलिए लो तुम इस प्रत्यक्ष रतिसुख का आदर करो ।

(3) इयजाम वयपुण्ण, थिउ लेइ सुपइण्ण ।

पिच्छेवि सहसत्ति, चित्तेइ णिवपत्ति ।

- वही

— इस प्रकार, जब सुदर्शन व्रतपूर्ण सुप्रतिज्ञा ले रहा था, तभी राजपत्नी सहसा उसकी ओर देखकर सोचने लगी ।

(4) पच्चक्खु ऐहं मारु, परिचत्त सिंगारु ।

जइ तणु पसाहेइ, तो जगु विमोहेइ ।

- वही

— यह शृंगारहीन होते हुए भी साक्षात् कामदेव है । यदि यह अपने शरीर को आभूषित कर ले तब तो समस्त जग को विमोहित कर लेगा ।

(5) विरहगिग सतत्तु, केत्तडउ मह चित्तु ।

पुणु भणइ सच्छेहिँ, णिम्मिलिअच्छेहिँ ।

- वही

— विरहाग्नि से संतप्त मेरा चित्त तो है ही कितना ? फिर वह अपनी स्वच्छ निमीलित आँखों सहित बोली ।

(6) झाएहि किं णाह, उतत्त कणयाह ।

मुहजित्त मयवाह, तियचित्त मयवाह ।

- वही

— तपाये हुए सुवर्ण के सदृश अपने मुख से चन्द्र को जीतनेवाले तथा स्त्रियों के चित्त में मद उत्पन्न करनेवाले, हे नाथ ! आप क्या सोच रहे हैं ?

15. मधुभार

आठ मात्रिक छंद है । उदाहरण —

(1) तिहवणरम्महँ, तो खि ण धम्महँ ।

लगगहिँ मूढिउ, पाव परूढिउ ॥

- सुदसणचरिउ, 6.15

— इतने पर भी वे मूढ़ पाप में फँसी हुई त्रिभुवनरम्य धर्म में मन नहीं लगाती ।

(2) कुटिउ मटिउ, मोट्टिउ छोट्टिउ ।

बहिरिउ अधिउ, अइदुगधिउ ॥

- वही

— वे ठूँठी, लंगड़ी, मोटी, छोटी, बहरी, अंधी, अतिदुर्गन्धी (होती हैं) ।

(3) मइल कुचेलिउ, कलहण सीलिउ ।

भिक्ख भमतित्तु, दुक्ख सहंतित्तु ॥

- वही

— मैली-कुचैली, कलहशील, भिखमंगी होकर दुःख सहती है ।

(4) इय चिरु अच्छहिं, सोक्ख समिच्छहिं ।

दइयहँ रूसहिं, अप्पउ दूसहिं ॥

- वही

— इस अवस्था में चिरकाल तक रहती हैं । सुख की इच्छा करती हैं । देव पर रुष्ट होती हैं और अपने को कोसती हैं ।

15. मत्तमातंग-

मात्रा - 16, गणयोजना - 6+4+4+2, तुकयोजना 1/2 । उदाहरण -

(1) एम भणेवि वीर-चूडामणि । पउमप्पह-विमाणे थिउ पावणि ॥

तहिं अवलरें सुगगीउ विरुज्झइ । भामण्डलु सरोसु सण्णज्झइ ॥ - पउमचरिउ 60.4

— वीरश्रेष्ठ हनुमान यह कहकर पद्मप्रभ विमान में जाकर बैठ गया । इस अवसर पर सुग्रीव भी विरुद्ध हो उठा । रोष से भरकर भामण्डल भी तैयारी करने लगा ।

(2) सज्जियाइँ चउ हंस-विमाणइँ । जिणवर भवणहों अणुहरमाणइँ ॥

गय रयाइँ ण सिद्धहँ थाणइँ । भङ्ग-जणइँ ण कुसुमहों बाणइँ ॥

- वही

— चारों हंस-विमान सजा दिये गये, जो जिनवर भवनों के समान थे । वे विमान सिद्ध-स्थानों की तरह गतरज (पाप और धूल से रहित) थे, कामदेव के बाणों की भौंति भंगजन (मनुष्यों को विचलित कर देनेवाले) थे ।

(3) मन्दर-सेल-सिहर-सच्छायइँ । किङ्किणी-घग्घर-घण्टा णायइँ ॥

अलि मुहलिय-मुत्ताहल-दामइँ । विज्जु-मेह-रवि-ससिपह णामइँ ॥

- वही

— उनके शिखर पहाड़ों की चोटियों के समान सुन्दर कातिमय थे । वे किङ्किणी, घग्घर और घण्टों के स्वर से निनादित थे । उसमें जड़ित मुक्तामालाओं को भौंरे चूम रहे थे । उन विमानों के क्रमशः नाम थे — विद्युत्प्रभ, मेघप्रभ, रविप्रभ और शशिप्रभ ।

(4) हरि-वलहइँ वे पटुवियइँ । वे अप्पाणहों कारणे ठवियइँ ॥

जिणु जयकारेंवि वि चडिउ विहीसणु । जो भय-भीय-जीव मम्भीसणु ॥ - वही

— पहले दो विभीषण ने राम और लक्ष्मण के लिए भेजे थे, और बाकी दो अपने लिए रख छोड़े थे । जिन भगवान की जय बोलकर विभीषण विमान पर चढ़ गया, वह विभीषण जो भयभीत लोगों को अभय प्रदान करनेवाला था ।

(5) का वि कन्त पिय णयणइँ अज्जइ । का वि कन्त रण तिलउ पउज्जइ ।

का वि कन्त सवियारउ जम्पइ । का वि कन्त तम्बोल, समप्पइ ॥ - वही

— कोई कान्ता अपने प्रिय के नेत्रों को औंज रही थी । कोई कान्ता अपने प्रिय के भाल पर तिलक निकाल रही थी । कोई कान्ता विकारग्रस्त होकर कुछ कह रही थी । कोई कान्ता पान समर्पित कर रही थी ।

(6) का वि कन्त सिरें बन्धइ फुल्लइ । बन्धइ परिहावेइ अमुल्लइ ॥

का वि कन्त आहरणइ ढोयइ । का वि कन्त परमुहु जें पलोयइ ॥ - वही

— कोई कान्ता अपने सिर में फूल खोस रही थी और अमूल्य वस्त्र पहन रही थी। कोई कान्ता गहने ढो रही थी । कोई कान्ता दूसरे का मुख देख रही थी ।

— क्रमशः

-
1. स्वयंभूछन्द, 8.15, संपादक - एच. डी. वेलणकर, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर, राज. 1962 ।
 2. "From these pieces called the Paddhadika" page no. 95-96, पउमचरिउ, स. डॉ. हरिवल्लभ चुनीलाल भायाणी, भारतीय विद्या भवन, बम्बई, 1953 ।
 3. "From this it is clear that here are term Paddhadia stands not for one particular metre but a class of metres" - वही, पृ. सं. 95 ।

•

पउमचरिउ स्वयम्भू का बिम्बविधान

• डॉ. श्रीरंजनसूरिदेव

‘पउमचरिउ’ अपभ्रंश के महाकवि स्वयम्भू (ईसवी आठवीं-नवीं शती) द्वारा अर्थगर्भकाव्य भाषा में रचित राम-महाकाव्य अथवा रामायण है । यह महाकाव्य इतिहास, कल्पना, मिथकीय चेतना एवं कथारूढ़ि से मिश्रित कथानक की व्यापकता और विशालता, साथ ही भावसघन एवं रसपेशल भाषिक वक्रता, चमत्कारपूर्ण वर्णन-शैली, मोहक बिम्ब और उदात्त सौन्दर्य से परिपूर्ण काव्यभाषा के मनोरम शिल्प से सज्जित असाधारण कृति है ।

कल्पना जब मूर्तरूप धारण करती है, तब बिम्बों की सृष्टि होती है और जब बिम्ब प्रतिमित या व्युत्पन्न या प्रयोग के पौनःपुन्य से किसी निश्चित अर्थ में निघारित हो जाता है, तब वह प्रतीक बन जाता है । इस प्रकार बिम्ब कल्पना और प्रतीक का मध्यवर्ती है । बिम्ब-विधान कलाकार की अमूर्त सहजानुभूति को इन्द्रियग्राह्यता प्रदान करता है । कल्पना से यदि सामान्य विचार-चित्रों की उपलब्धि होती है, तो बिम्ब से विशेष चित्रों की । ‘पउमचरिउ’ में अनेक ऐसे कलात्मक चित्र हैं जो अपनी विशेषता से मनोरम बिम्बों की उद्भावना करते हैं ।

‘पउमचरिउ’ में वास्तविक और काल्पनिक दोनों प्रकार की अनुभूतियों से बिम्बों का निर्माण हुआ है, जैसे कुछ बिम्ब तो दृश्य के सादृश्य के आधार पर निर्मित हुए हैं और कुछ सवेदन की प्रतिकृति से । इसी प्रकार, कतिपय बिम्ब किसी मानसिक धारणा या विचारणा से निर्मित हुए हैं तो कुछ बिम्बों का निर्माण किसी विशेष अर्थ को चोतित करनेवाली घटनाओं से हुआ है । पुनः कुछ बिम्ब उपमान या अप्रस्तुत से निर्मित हैं तो कुछ उपमेय या प्रस्तुत से । कल्पना की

भौति बिम्ब भी विभिन्न इन्द्रियों, जैसे — चक्षु, घ्राण, श्रवण, स्पर्श, आस्वाद आदि से निर्मित होते हैं । महाकवि स्वयंभू द्वारा प्रस्तुत बिम्बों के अध्ययन से उनकी प्रकृति के साथ ही युग की विचार-धारा का भी पता चलता है । कुल मिलाकर, बिम्ब एक प्रकार का रूपविधान है, और ऐन्द्रिय आकर्षण ही किसी कलाकार को बिम्ब-विधान की ओर प्रेरित करता है । रूप-विधान होने के कारण ही अधिकांश बिम्ब चाक्षुष होते हैं ।

महाकवि द्वारा निर्मित लंका के त्रिकूट पर्वत और उस पर अवस्थित सात उपवनों से आवृत लंका नगरी का मनोरम चाक्षुष बिम्ब-विधान द्रष्टव्य है —

गिरि दिट्टु तिकूडु जण-मण-नयण-सुहावणउ ।

रविडिंभहो दिण्णु ण महि-कुलवहुअएँ थणउ ॥

ण धरु धरहे गब्भु णीसरियउ । सत्तहिं उववणेहिं परियरिअउ ।

पहिलउ वणु णामेण पइण्णउ । सज्जण-हियउ जेम वित्थिण्णउ ॥

वीयउ जण-मण-णयणानंदणु । णावइ जिणवर-बिम्बु सच्चदणु ।

तइयउ वणु सुहसेउ सुहावउ । जिणवर-सासणु णाई स-सावउ ॥

चउथउ वणु णामेण समुच्चउ । बग-बलाय-कारंड-सकोचउ ।

चारण-वणु पंचमउ रवण्णउ । चपय-तिलय-वउल-संछण्णउ ॥

छट्टउ वणु णामेण णिबोहउ । महउर-रुणुरुटंतु सुसोहउ ।

सत्तमु वणु सीयलु सच्छायउ । पमउज्जाणु णाम-विक्खायउ ॥

तहिं गिरिवर-पट्टे सोहइ लंकाणयरि किह ।

थिय गयवर-खधे गहिय-पसाहण बहुअ जिह ॥

— 42, 8.9, 9.1-9

अर्थात्, लंका नगरी का (रविबिम्ब को स्पर्श करनेवाला) त्रिकूट पर्वत लोगों के मनों और आँखों के लिए ऐसा सुहावना लगता था मानो वह धरती का स्तन हो और धरती ने जिसे रवि-रूपी बालक को पीने के लिए दे दिया हो ।

वह पर्वत धरती का उभरा हुआ मध्यभाग के समान था । वह लंकानगरी सात उपवनों से आवृत थी । पहला प्रकीर्ण नामक वन सज्जन-हृदय के समान अतिशय विस्तृत था । जनमन के नयनों को आनन्द देनेवाला । दूसरा वन जिनवर के बिम्ब (प्रतिमा) की तरह चन्दनयुक्त (चन्दन के वृक्षों से युक्त) था । तीसरा शुभसेतु या सुखसेतु नामक शोभाशाली वन जिनवर-शासन के समान श्वापदों और श्रावकों से सहित था । चौथा समुच्चय नामक वन बक-बलाका और कारणड-क्रौंच पक्षियों से भरा था । पाँचवाँ रमणीय चारण वन चम्पक, तिलक और बकुल वृक्षों से आच्छन्न था । छठा निबोधक नामक वन मधुकरों के गुंजार से सुशोभित था । सातवाँ ख्यातनामा प्रमदोद्यान सघन छाया से युक्त और शीतल था ।

उस गिरिवर की पीठ पर अवस्थित लंकानगरी की शोभा इस प्रकार थी, जैसे सजी-सैवरी हुई वधू श्रेष्ठ हाथी के कन्धे पर बैठी हुई हो ।

प्रस्तुत अवतरण में हृदयावर्जक चाक्षुष बिम्ब ('ऑप्टिकल इमेज') का विधान हुआ है । इस ऐन्द्रिय बिम्ब में दृश्य के सादृश्य पर रूप-विधान तो हुआ ही है, उपमान या अप्रस्तुत के

द्वारा भी सवेदन या तीव्र अनुभूति की प्रतिकृति के माध्यम से स्थापत्य-बिम्ब का मनोहारी निर्माण हुआ है । इसमें वास्तविक और काल्पनिक दोनों प्रकार की अनुभूतियों से निर्मित बिम्ब तथ्यबोधक भाव-विशेष का सफल संवहन करते हैं । महाकवि द्वारा रवि शिशु को पिला रही पृथ्वी के स्तन-रूप में वर्णित त्रिकूट पर्वत और हाथी पर बैठी सजी-सैवरी वधू-रूप में चित्रित लंकानगरी का इन्द्रियगम्य बिम्ब सौन्दर्योद्भावक और सातिशय कला-रचिर भी है । 'सचदणु' और 'ससावउ' प्रयोग में प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत दोनों पक्षों पर लागू होनेवाले बिम्ब श्लेष से निर्मित हुए हैं । 'महुअर-रुणुहंटु' में श्रवण-बिम्ब तथा 'वणु सीयलु' में स्पर्श-बिम्ब के विन्यास से समग्र चाक्षुष बिम्ब को ततोऽधिक आवर्जकता प्राप्त हुई है ।

प्रत्यक्ष रूपविधान के अन्तर्गत नवमेघ का एक उदात्त कल्पनामूलक चाक्षुष बिम्ब दर्शनीय है -

गज्जंत-महागय-घण-पबलु । तिक्खग्ग-खग्ग-विज्जुल-पबलु ।
 हय-पडह-पगज्जिय-गयणयलु । सर-धारा-धोरणि-जल-बहलु ॥
 धुअ-धवल-छत्त-डिंडीरवरु । मंडलिय-चाव-सुरचाव-करु ।
 सय-सदण-वीढ-भयावहलु । सिय-चमर-वलाय-पति-विउलु ॥
 ओरसिय-सख-ददुदुर-पउरु । तोणीर-मोर-णच्चण-गहिरु ॥

- 27, 4.1-6

अर्थात्, (नवमेघ) गरजते महाराज-रूप घन से प्रबल तथा तीक्ष्ण अग्रभाग या तीखी नोकवाली तलवार-रूपी बिजली से चंचल था । जो आहत नगाड़ों की तरह आकाश को गर्जन-गम्भीर बना रहा था, जो बाण की धारा की पक्ति के समान जलवृष्टि कर रहा था, जो कौपते हुए धवल छत्र-रूप फेन से सुन्दर लग रहा था, जिसके हाथ में मण्डलाकार धनुष-रूप इन्द्रधनुष था, जो सैकड़ों रथपीठ से भी अधिक भयावह था, जो श्वेत चमर-रूप बकपक्तियों से विशाल था, जो बजते शंख-रूप मेढ़कों से भरा था और जो तूणीर-रूप मयूरों के नृत्य से गम्भीर था ।

प्रस्तुत चाक्षुष बिम्ब में रूपकों के माध्यम से गत्वर बिम्ब का आकर्षक समाहार हुआ है, जिसे बिजली की चपलता, फेन के कम्पन और मयूर के नृत्य में प्रत्यक्ष किया जा सकता है । इसके अतिरिक्त, आहत नगाड़ों तथा बजते शंखरूप मेढ़कों में श्रवण-बिम्ब एवं कौपते धवल छत्र-रूप फेन में स्पर्श-बिम्ब का विधान भी हुआ है । साथ ही, महाकवि ने अपना सार्थक रंगबोध (धवल छत्र और श्वेत चमर) भी उपन्यस्त किया है ।

इस सन्दर्भ में महाकवि का मनोरम रंग बोधपरक एक चाक्षुष बिम्ब अवलोकनीय है -

त पेक्खेवि गुज-पुज-णयणु । दट्टोदुरुदु-रोसिय-वयणु ।
 आबद्ध-तोणु धणुहरु अभउ । धाडउ लक्खणु लहु लद्ध-जउ ॥

- 27, 4.7-8

अर्थात्, उस नवमेघ को देखकर गुंजाफलों के समान (लाल) आँखोंवाला, ओठ चबाते हुए श्लेष्म और क्रुद्धमुख, अभय, धनुर्धर और विजयी लक्ष्मण, तरकस बौधे हुए, शीघ्र दौड़ा ।

कहना न होगा कि प्रस्तुत भावाश्रित चाक्षुष बिम्ब के अंकन में महाकवि ने अपने रंगबोध का परिचय प्रस्तुत किया है । इस सन्दर्भ में गुंजाफल के क्रोधारक्त आँखों का रंगबोधमूलक बिम्ब

का उदात्त सौन्दर्य अतिशय नेत्रावर्जक है । साथ ही, रौद्र और वीर रस के आसंग में लक्ष्मण के युद्धवीर का परुष-बिम्ब भी मनोमोहक है ।

इसी क्रम में, भयानक रस के आसंग में उपस्थापित अनुरणनात्मक कठोर श्रवण बिम्ब का एक उदाहरण द्रष्टव्य है जो लक्ष्मण के धनुष उठाने से उत्पन्न स्थिति के माध्यम से निर्मित है —

अप्फालिउ महुमहणेण धणु । धणु-सददें समुट्टिउ खर-पवणु ॥
 खर-पवण-पहय जलयर रडिय । रडियागमे वज्जासणि पडिय ॥
 पडिया गिरिसिहर समुच्छलिय । उच्छलिय-चलिय महि णिददलिय ॥
 णिददलिय भुअंग विसगिग मुक्क । मुक्कंत णवर सायरहूँ दुक्क ॥
 दुक्कतेहिं बहल फुलिग धित्त । घण सिप्पि-सख-सपुड पलित्त ॥
 धग-धग-धगति मुत्ताहलाई । कढकढकढंति सायर-जलाई ॥
 हस-हस-हसति पुलिणंतराई । जलजलजलंति भुअणंतराई ॥

— 27, 5.1-7

अर्थात्, लक्ष्मण ने अपने धनुष पर डोरी चढ़ाकर उससे टंकार उत्पन्न किया । धनुषटंकार से तेज हवा चलने लगी जिससे आहत मेघ गरज उठे और मेघ-गर्जन से वज्रपात होने लगा । पहाड़ गिर पड़े और उसके शिखर उछलने लगे, जिससे दलित धरती डोलने लगी । धरती के दलित होने से पातालवासी नाग फुफकार करने लगे । नागों की विषाग्नि समुद्र में जब पहुँची, तब उससे ज्वाला उठने लगी और चिनगारियाँ छूटने लगीं जिससे सीपी, शंख-सम्पुट जल उठे । मुक्ताफल 'धक-धक' करने लगे । सागर का जल 'कड़-कड़' करने लगा । समुद्र तट 'हस-हस' करके धँसने लगा । भुवनों के अन्तराल जलने लगे ।

यहाँ पर्वत, सर्प, हवा, मेघ, धरती और समुद्र का भयानक बिम्ब प्रत्यक्ष रूपविधान का रोमांचकर उदाहरण है, जिसमें भयंकर चाक्षुष बिम्ब और परुष श्रवण-बिम्ब का समेकित उपन्यास हुआ है । यहाँ सफल बिम्बग्रहण और प्रभावक बिम्बविधान के लिए महाकवि स्वयम्भू ने भयानक सौन्दर्य की अद्भुत कल्पना की है । हालांकि, महाकवि द्वारा निर्मित यह बिम्ब केवल शब्दाश्रित है ।

इस प्रकार, 'पउमचरिउ' में महाकवि स्वयम्भू द्वारा अनेक शब्दाश्रित और भावाश्रित बिम्बों का विधान किया गया है जिनमें भाषा और भाव दोनों पक्षों का समावेश हुआ है । 'पउमचरिउ' में अनेक ऐसे स्थल सुलभ हैं जहाँ महाकवि की कल्पना मूर्तरूप धारण करके उपमा और रूपकों के माध्यम से निर्मित होकर भी स्वतन्त्र अस्तित्व के साथ बिम्बों की सृष्टि करने में समर्थ हुई है । बहुधा वस्तुविशेष के प्रति ऐन्द्रिय आकर्षण के कारण ही महाकवि बिम्ब-विधान की ओर प्रेरित हुआ है । 'पउमचरिउ' में प्राप्य कतिपय मोहक बिम्ब-विधायक प्रयोग समेकित रूप में द्रष्टव्य हैं —

1. 'णहंगणेण घणु गज्जिउ' (आकाश के आँगन में मेघ का गर्जन) — चाक्षुष तथा श्रवण बिम्ब (29, 3.5) ।
2. 'कामिणि-चल-मण मच्छुत्थल्लिएँ' (कामिनियों के चंचल मन-रूप मत्स्य) — चाक्षुष गत्वर बिम्ब (30,4.7) ।

3. 'रत्नुप्ल-दल-ल्यणेण' (रक्तकमल के समान लोचन) — रंगबोधपरक चाक्षुष बिम्ब (30, 7.9) ।
4. 'धव्लामल-कोमल-कमलु' (उज्ज्वल, निर्मल और कोमल कमल) — रंगबोधपरक चाक्षुष-बिम्ब और स्पर्श-बिम्ब (33, 11.2) ।
5. 'चदण-अगरु-गंध-डिविडिक्किय' (चन्दन और अगरु-गन्ध से सुवासित) — घ्राणबिम्ब (34, 10.4) ।
6. 'दिण्णइं पुणु तिमण्णइं मणिट्ठइं । अहिणव-कइ-वयणा इव मिट्ठइं ॥' (फिर मनपसन्द कढ़ी दी गई, जो अभिनव कवि के वचनों के समान मीठी थी) — आस्वाद-बिम्ब (34, 13.5) ।

इस प्रकार, 'पउमचरिउ' में पंचेन्द्रिय (रूप, रस, शब्द, स्पर्श और गन्ध) बिम्बों के एक-से-एक उत्तम निदर्शन भरे पड़े हैं, जिनका विवेचन स्वतन्त्र शोध का विषय है । कहना न होगा कि 'पउमचरिउ' में महाकवि स्वयम्भू द्वारा विनिवेशित सभी बिम्ब उनकी चिन्तानुकूलता से आश्लिष्ट हैं, इसलिए चित्रात्मक होने के साथ ही अतिशय भव्य और रमणीय, अतएव रसनीय हैं ।

जेँ सरयहोँ आगमणेँ

कोञ्चणइहेँ तीरेँण सठियईँ, लय-मण्डवेँ गम्पि परिट्टियईँ ।
 छुडु जेँ छुडु जेँ सरयहोँ आगमणेँ, सच्छाय महादुम जाय वणेँ ।
 णव-णलिणिहेँ कमलईँ विहसियईँ, ण कामिणि-वयणईँ पहसियईँ ।
 तहिँ तेहएँ सरएँ सुहावणएँ, परिभमइ जणददणु काणणएँ ।
 वणेँ ताम सुअन्धु वाउ अइउ, जो पारियाय-कुसुमबभहिउ ।
 कडिठउ भमरु जिह ते वाएँ सुट्टु सुअन्धेँ ।
 धाइउ महमहणु जिह गउ गणियारिहेँ गन्धेँ ।

— पउमचरिउ, 36.2

— क्रोच नदी के किनारे-किनारे होते हुए वे (राम-सीता और लक्ष्मण) एक लतामण्डप में जाकर बैठ गए । शीघ्र ही शरद ऋतु के आने पर वन में महादुम सुन्दर कान्तिवाले हो गए । नव-नलिनियों के कमल इस प्रकार विकसित थे मानो स्त्रियों के हँसते हुए मुख हों । उस सुहावनी शरद ऋतु में लक्ष्मण वन में भ्रमण करने लगा । तब सुगन्धित वायु आई जो पारिजात पुष्पों से उत्पन्न थी । उस सुगन्धित वायु से भ्रमर की तरह आकर्षित होकर, लक्ष्मण उसी प्रकार दौड़े जिसप्रकार हथिनी की गंध से हाथी दौड़ता है ।

— अनु., डॉ. देवेन्द्रकुमार जैन

स्वयम्भूछंद : एक विश्लेषण

• डॉ. गदाधर सिंह

•

'स्वयम्भूछंद' प्राकृत - अपभ्रंश छंदशास्त्रीय - परम्परा के उत्कृष्टतम ग्रंथों में से एक है। इसका सम्पादन डॉ. एच. डी. वेल्कर ने 'ओरियंटल इस्टीट्यूट ऑफ बंबई' की प्रति तथा महापंडित राहुल सांकृत्यायन से प्राप्त प्रति के आधार पर किया है। यह रचना अपूर्ण है क्योंकि अभी भी इसके कुछ अंश अप्राप्य हैं। इसके दो भाग हैं - पूर्व भाग और उत्तर भाग।

'स्वयम्भूछंद' के रचनाकार के सम्बन्ध में मतभेद है। कुछ लोगों की मान्यता है कि 'पउमचरिउ' के रचयिता स्वयम्भू एवं 'स्वयम्भूछंद' के रचयिता स्वयम्भू दोनों भिन्न व्यक्ति हैं किन्तु डॉ. वेल्कर, भयाणी, नाथूराम प्रेमी प्रभृति विद्वान दोनों को एक मानते हैं। इनका तर्क यह है कि स्वयम्भू ने छंदों के उदाहरण तत्कालीन अपभ्रंश ग्रंथों से दिए हैं और उनके रचयिताओं के नाम भी लिख दिये हैं किन्तु कुछ ऐसे उद्धरण भी हैं जिनके रचयिता का नाम नहीं दिया गया है। इनमें से अधिकांश उद्धरण 'पउमचरिउ' में मिल जाते हैं। इससे निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि चूंकि ये सभी उद्धरण ग्रंथकर्ता के निजी हैं अतः उनका नामोल्लेख करना उसने आवश्यक नहीं समझा।

'स्वयम्भूछंद' में कुल 13 अध्याय हैं जिनमें आठ अध्यायों में प्राकृत छंदों का तथा शेष पाँच अध्यायों में अपभ्रंश छंदों का विवेचन हुआ है। प्रत्येक अध्याय के अन्त में रचनाकार ने शिक्षा है - 'पंच संसार हए बहुलत्ये लवखलक्खण विसुद्धे । एत्थ सअंभुच्छंदे'। इसका तात्पर्य है कि रचनाकार की मान्यता है कि इसमें पाँच अंशों का सार प्रस्तुत है।

'पंच अंश' से स्वयम्भू का तात्पर्य पंचमात्राओं से है — 2, 3, 4, 5, 6 मात्रागण। विरहांक ने पंचमात्राओं के तकनीकी नाम रखे हैं। जैसे - आयुध = 5 मात्रा, आभरण = S, कदलिका = IS, गज = 4 मात्रा, तूर्य = III, बाण = 5 मात्रा, शब्द = 1 मात्रा इत्यादि। आगे चलकर 'प्राकृत पैंगलम्' में भी विरहांक का अनुसरण करते हुए मात्राओं के तकनीकी नाम रखे गए। स्वयम्भू ने इन पाँच अंशों या मात्राओं के लिए कोई तकनीकी नाम नहीं रखा है वरन् इसके लिए उसने वर्णमाला के अक्षरों को स्वीकार किया है। जैसे - दुकल = द, तिकल = त, चौकल = च, पंचकल = प, छकल = छ। हेमचन्द्र ने स्वयम्भू का पूर्णतः अनुसरण किया है सिर्फ 'छ' के स्थान पर उन्होंने 'ष' रखा है जो 'षण्मात्रा' को द्योतित करता है। इस प्रकार स्वयम्भू का दृष्टिकोण विषय को स्पष्ट करने में एकदम सहायक है। कवि दर्पणकार ने विषय को एकदम उलझा दिया है। उन्होंने द्विमात्रा, त्रिमात्रा, चतुर्मात्रा, पंचमात्रा और षण्मात्रा के लिए क्रमशः क, च, त, ट, प अक्षर रखे हैं। 'षण्मात्रा' के लिए 'प' अक्षर रखना विषय को उलझानेवाला ही है। गुरु-लघु के स्थान को द्योतित करने के लिए भी स्वयम्भू ने सीधा रास्ता अपनाया है। प्रारम्भ के लिए वे पुव्व, मुह, आइ आदि विशेषण रखते हैं। मध्य के लिए मज्जा, जत्थर आदि तथा अन्त के लिए अन्त, उत्तर, पार, निहान, अवसान आदि। लघु-गुरु के लिए लकार-गकार, उध्व-दीर्घ, अवकार-वकार आदि। इस प्रकार के प्रतीक विधान का उपयोग जनाश्रयी एवं विरहांक ने भी किया है।

प्रारम्भ में स्वयम्भू ने लघु-गुरु की गणना का सिद्धान्त प्रस्तुत किया है। शब्दान्त में 'इम्' विकल्प से लघु होता है। इसी प्रकार शब्दान्त में 'हि' लघु होता है। पद के अन्त में 'ए' और 'ओ' लघु होता है। 'र' के साथ जिस व्यंजन का संयोग होता है वह व्यंजन लघु हो जाता है। जैसे — वोद्रहि। यहाँ 'हि' लघु है क्योंकि इसके पूर्व 'द्र' है। इसमें 'र' व्यंजन लगा है। 'ह' व्यंजन के संयोग से वर्ण लघु हो जाता है। जैसे — अज्ज वि ण्हवणविसेण॥ यहाँ 'वि' लघु है क्योंकि 'ण्हवणविसेण' के ण्ह के पूर्व है। संस्कृत में सामान्यतः जो वर्ण गुरु माना जाता है वह प्राकृत में लघु हो सकता है इस प्रकार प्राकृत में इम्, हिं, ए, ओ (शब्दान्त में) लघु होते हैं। इसी प्रकार ह, र, व्यंजन के पूर्व पड़नेवाला वर्ण लघु होता है।

कविदर्पण (1/5-6) में भी गुरु-लघु का नियम बताते हुए कहा गया है कि प्राकृत में ए, ओ, हिं, इं, (पादान्त) तथा अपभ्रंश में उँ, हिँ, हिं, हं, (पादान्त) में लघु होते हैं। इसी प्रकार स्वर ए, ओ जब व्यंजन से मिलते हैं तब शब्द के मध्य में भी लघु होते हैं। द्र, ल्ह, न्ह के पूर्व आनेवाला वर्ण भी लघु होता है।

ग्रंथ का प्रथम अध्याय 'गाथादिविधि' है। डॉ. वेलंकर के अनुसार इसका वास्तविक नाम 'स्कन्धकजाति' होना चाहिए था क्योंकि इस अध्याय में सर्वप्रथम स्कन्धक का ही विवेचन किया गया है। स्वयम्भू ने स्कन्धक को मूल और गाथा को उससे निष्पन्न माना है। इसके विपरीत पिंगल, विरहांक, हेमचन्द्र आदि गाथा को मूल और स्कन्धक को इसी से उत्पन्न मानते हैं। डॉ. वेलंकर के अनुसार स्वयम्भू का मत अधिक तर्कपूर्ण है। स्कन्धक समद्विपदी छंद है और इसके प्रत्येक चरण में आठ चतुर्मात्राएँ = बत्तीस मात्राएँ होती हैं। जनाश्रयी (5/44) इसे आर्यागीति कहते हैं। गाथा विषम द्विपदी छंद है। इसके प्रथम भाग में 30 मात्राएँ (12+18) होती हैं और द्वितीय भाग में 27 (12+15) मात्राएँ। डॉ. वेलंकर गाथा को विषम द्विपदी ही मानते हैं जबकि संस्कृत के आचार्य इसे चतुष्पदी कहते हैं। यों वेदों में भी गाथा का अस्तित्व है किन्तु वैदिक गाथाएँ वर्णिक हैं, मात्रिक नहीं। विद्वानों की ऐसी मान्यता है कि गाथा का मात्रिक रूप द्रविण जाति की देन है। डॉ. वेलंकर ने गाथा का विकास अनुष्टुप से माना है। डॉ. भोलाशंकर

व्यास इस मत से सहमत नहीं हैं । इनका कहना है कि गाथा विषम द्विपदी है जबकि अनुष्टुप चतुष्पाद छंद है । डॉ. व्यास स्कन्धक को गाथा का ही एक भेद मानते हैं ।

डॉ. वेलकर का अनुमान है कि विषम चरणवाले छंदों का विकास निश्चितरूप से समचरणवाले छंदों के बाद ही हुआ होगा । स्कन्धक समद्विपदी है और गाथा विषमद्विपदी । स्कन्धक के प्रत्येक चरण में आठ चतुर्मात्राएँ होती हैं । इसी से गीति छंद निकला है जिसके प्रत्येक चरण में $7\frac{1}{2} \times 4 = 30$ मात्राएँ होती हैं । यही गीति उपगीति होती है जब प्रत्येक चरण में 27 मात्राएँ (5 चतुर्मात्रा + लघु + $1\frac{1}{2}$ चतुर्मात्रा) होती हैं । इस प्रकार स्वयम्भू ने दो प्रकार की छान्दिक इकाई रखी है - एक 30 मात्रा की और दूसरी 27 मात्रा की । इन्हीं से दो छंद-गाथा और उद्गीति बने हैं । गाथा की प्रथम अर्धाली में 30 मात्रा और द्वितीय में 27 मात्राएँ होती हैं । उद्गीति इसका ठीक विलोम है । इसकी प्रथम अर्धाली में 27 तथा द्वितीय अर्धाली में 30 मात्राएँ होती हैं ।

प्रारम्भ में गाथा में दो ही चरण थे । बाद में इसे चतुष्पाद बना दिया गया । इसकी दोनों अर्धालियों में 12 मात्राओं (तीन चतुर्मात्रा) के बाद यति होती है । यति के पूर्व का अंश ही चरण बन गया है ।

प्राकृत-गाथा और इसका संस्कृत रूप आर्या का प्रयोग विवरणात्मक कविता के लिए होने लगा । इस अर्थ में इसकी समानता संस्कृत के अनुष्टुप छंद से की जा सकती है ।

पथ्या (स.च. 4×3 , 5, 15=20 मात्रा) का उल्लेख विरहांक (वृत्त जाति समुच्चय 3/24) ने किया है । इसके द्वारा वर्णित शालभजिका छंद (वृत्त जाति समुच्चय 4/79) भी पथ्या की तरह ही है जिसके प्रत्येक चरण में 20 मात्राएँ होती हैं । हेमचन्द्र (4/54) ने जिस शालभजिका छंद का उल्लेख किया है वह विरहांक से भिन्न है । हेमचन्द्र के शालभजिका छंद के प्रत्येक चरण में 24 मात्राएँ होती हैं ।

'स्वयम्भूछंद' के द्वितीय अध्याय में गलितक और उससे निष्पन्न छंदों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है । 'गलितक' एक छंद-विशेष भी है और एक वर्ग-विशेष भी । छन्द-विशेष के रूप में यह 21 मात्रा (5×2 , 4×2 , 3) का समचतुष्पदी छंद है । वर्ग-विशेष के रूप में, स्वयम्भू के अनुसार स्कन्धक-वर्ग के छन्दों के अतिरिक्त वे सभी छंद गलितक हैं जिनमें तुक की योजना होती है । हेमचन्द्र (4/25) ने गलितक-प्रकरण के अन्तर्गत 24 प्रकार के गलितकों का विवेचन प्रस्तुत किया है जिनमें कुछ द्विपदी, कुछ सम चतुष्पदी और कुछ सम तथा कुछ अर्धसम छंद हैं । इससे ज्ञात होता है कि मंगला, धवला, रासक, वस्तुक आदि की भौति यह शब्द भी सामान्य अर्थ में ही प्रयुक्त होता रहा है । स्वयम्भू ने गलितक के अन्तर्गत मात्र माला-गलितक, मुग्ध गलितक और उग्र गलितक का ही विवेचन किया है । हेमचन्द्र द्वारा उल्लेखित गलितक के विभिन्न प्रकारों का विवेचन स्वयम्भू में नहीं है ।

तृतीय अध्याय 'खंजक जाति' शीर्षक है । इस अध्याय का अधिकोश उपलब्ध नहीं है । इसमें खंजक और इससे निष्पन्न छंदों का विवेचन है । 'खंजक' छंद का सर्वप्रथम विवेचन विरहांक के 'वृत्ति जाति समुच्चय' (4/18) में उपलब्ध होता है । विरहांक के अनुसार यह अर्धसम चतुष्पदी है जिसके विषम चरणों में 9 तथा समचरणों में 11 मात्राएँ (4, 5 15, 4, 2, 5 15) होती हैं । कविदर्पण (2.23), स्वयम्भू (3.2) तथा हेमचन्द्र (4.50) के अनुसार यह सम चतुष्पदी है जिसकी मात्रागण व्यवस्था है - 3, 3, 4×3 , 3, 5 = 23 मात्रा हेमचन्द्र के अनुसार

खंजक कोई खास छंद न होकर गलितक प्रकरण के उन सभी छंदों की संज्ञा है जहाँ पादान्त में यमक के स्थान पर केवल अनुप्रास (तुक) पाया जाता है — पूर्व काण्येव गलितकानि यमकरहितानि सानुप्रासानि यदि भवन्ति तदा खञ्जक संज्ञानि (हेमः छंदोऽनुशासन 4.49) । 'प्राकृत पैंगलम्' का खंजा छंद हेमचन्द्र से भिन्न है । इसके प्रत्येक चरण में 41 मात्राएँ (9 सर्वलघु चतुष्कल + रगण) होती हैं। स्वयम्भू तथा हेमचन्द्र ने चालीस या इससे अधिक मात्रावाली द्विपदियों को मालाघर की सामान्य संज्ञा दी है । स्वयम्भू ने इस वर्ग के अन्तर्गत खण्ड, कामलेखा, मागधनकुटी, समनकुटक, तरंगक, चित्रलेखा, मल्लिका, दीपिका, लक्ष्मी आदि छंदों का विवेचन किया है । स्वयम्भू ने मदनावतार और इसके भेदों को खंजक, प्रकरण के अन्तर्गत विवेचित नहीं किया है । स्वयम्भू 'मदनावतार' को अपभ्रंश छंद के अन्तर्गत स्थान देते हैं जबकि हेमचन्द्र और कविदर्पणकार ने इसे प्राकृत छंदों के अन्तर्गत रखा है ।

चतुर्थ अध्याय 'शीर्षक जाति' है । शीर्षक एक छंद विशेष भी है और जाति-विशेष भी । स्वयम्भू ने शीर्षक के अन्तर्गत द्विपदी खण्ड, द्विभगिका तथा विषम शीर्षक का ही विवेचन किया है । सम्भवतः मूल प्रति के पत्रे गायब हो जाने के कारण ऐसा हुआ है । हेमचन्द्र ने शेष अंशों का पूर्ण विवेचन किया है और इसे मानने का पूर्ण आधार है कि हेमचन्द्र ने स्वयम्भू का पूर्णतः अनुसरण किया है ।

पूर्व भाग का पंचम अध्याय 'मागध जाति' कहा गया है । इसके अन्तर्गत - पादाकुलक, मात्रासमक, वानवासिका, विश्लोक, चित्रा और उपचित्रा का विवेचन हुआ है । संस्कृत छंदशास्त्रियों ने मात्रावृत्त को तीन वर्गों में विभाजित किया है - द्विपदी, चतुष्पदी और अर्धसम चतुष्पदी । द्विपदी में गाथा (संस्कृत आया) को समाविष्ट किया गया है । चतुष्पदी को मात्रासमक और अर्धसम चतुष्पदी को वैतालीय कहा जाता है । स्वयम्भू मागधिका को प्रधान और वैतालीय को उससे निःसृत मानते हैं । इसके विपरीत हेमचन्द्र ने मागधी (3.62) को वैतालीय वर्ग (3.53) के अन्तर्गत ही रखा है । ऐसा अनुमान किया गया है कि मात्रासमक और वैतालीय छंद पशु-पालकों के बीच गाये जाते रहे होंगे और कालान्तर में छन्दशास्त्रियों ने उन्हें शास्त्रीय रूप प्रदान किया होगा ।

षष्ठ अध्याय 'उल्कादिविधि' है । इसमें उल्का और अन्य छंदों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है । ये सभी छंद वर्णवृत्त हैं किन्तु इन्हें परिभाषित करने के लिए अक्षरगणों (यगण, रगण आदि) के स्थान पर विशिष्ट निर्देशित मात्रा गणों (छ, प, च, त, द) का प्रयोग किया गया है । यदि किसी स्थान पर गुरु रखे जाने का विधान है तो ऐसा नहीं किया जा सकता कि उसके बदले दो लघु रख दिए जाएँ । इसी प्रकार यदि विशिष्ट द्विमात्रा, त्रिमात्रा, चतुर्मात्रा या पंचमात्रा रखने का निर्देश है तो उसी विशेष प्रकार की मात्रा का विधान करना होगा न कि कोई सामान्य मात्रा । अक्षरगणों के सम्बन्ध में स्वयम्भू ने एक विशेषता यह प्रदर्शित की है कि एक अक्षर से घटा-बढ़ा देने से इसका दूसरा छंद निर्मित हो जाता है ।

यति के सम्बन्ध में स्वयम्भू की मान्यताएँ अन्य आचार्यों से भिन्न हैं । जानाश्रयी पाद के मध्य में यति मानते हैं । मन्दाक्रान्ता सेस शो नी नु. (4.86) सूत्र के द्वारा इन्होंने बताया है कि मन्दाक्रान्ता में चौथे तथा छठे अक्षर पर यति होती है । कवि दर्पणकार के अनुसार पदमध्य यति हो सकती है किन्तु पद प्रारम्भ होने पर तीन अक्षर की समाप्ति के पूर्व यति नहीं हो सकती है । यति के ये समस्त नियम संस्कृत के वर्णवृत्तों पर ही लागू हैं और कवि दर्पणकार ने इस सम्बन्ध में पूर्णतः पिंगल और जयदेव का ही अनुसरण किया है ।

स्वयम्भू के अनुसार यति के महत्त्व को सभी विद्वानों ने समान रूप से स्वीकार नहीं किया है । पिंगल और जयदेव यति को मानते हैं किन्तु माण्डव्य, भरत, काश्यप, सैतव आदि पद के मध्य में यति की स्थिति को अनिवार्य नहीं मानते । स्वयम्भू वर्णवृत्तों में पाद के मध्य में यति की स्थिति का उल्लेख नहीं करते । इन्होंने द्विपदी और रासक को छोड़कर, जो मूलतः मात्रा और तालवृत्त हैं, प्राकृत-अपभ्रंश छंदों में यति को सामान्य रूप से स्थान नहीं दिया है । रासक छंद (8.25) में भी जो 21 मात्रा का छंद है, 14वें स्थान की लम्बी दूरी पर यति होती है । प्राकृत-अपभ्रंश के इस नियम को स्वयम्भू ने संस्कृत के वर्णवृत्तों तक व्यापक कर दिया है ।

उत्तर भाग — 'स्वयम्भूछंद' के उत्तर भाग का प्रारम्भ 'उल्कादिविधि' से हुआ है । वस्तुतः यह पूर्व भाग की 'उल्कादिविधि' का ही शेष अंश है ।

उत्तर भाग के तृतीय अध्याय का शीर्षक 'प्राकृतसार' है । 'प्राकृतसार' से स्वयम्भू का तात्पर्य है कि अभी तक विवेचित सभी छंद चाहे वे मात्रावृत्त हों या वर्णवृत्त, प्राकृत के ही छंद हैं । इन्होंने वर्णवृत्तों को भी मात्रागण के आधार पर विवेचित किया है ।

'उत्साहदीनि' शीर्षक के अन्तर्गत अपभ्रंश छंदों का विवेचन है । ग्रंथ के शेष पाँच अध्यायों में स्वयम्भू ने अपभ्रंश छंदों का ही वर्णन किया है । प्रारम्भ में रचनाकार ने अपभ्रंश छंदों की मात्रा-गणना का नियम बताया है । बिन्दुयुक्त इ, हि, उ, हु, ह यदि शब्दान्त में रहें तो छन्द की आवश्यकतानुसार लघु होते हैं । पदान्त में 'ए' और 'ओ' भी लघु हो जाते हैं । इसी प्रकार व्यंजन से मिश्रित होने पर शब्द के प्रारम्भ, मध्य और अन्त में ए और ओ लघु होते हैं । स्वयम्भू ने स्पष्ट किया है कि ऐसे अक्षर जिन्हें सामान्यरूप में गुरु माना है, छन्द की आवश्यकतानुसार लघु हो जाते हैं । किसी चरण के अन्त के लघु अक्षर को भी गुरु मानकर गणना करनी चाहिए यदि छंद की आवश्यक मात्रा में कमी होती जान पड़े । इसी प्रकार छंद की आवश्यकता के अनुसार चरण की अन्तिम मात्रा यदि गुरु हो तो उसे लघु समझ लिया जाना अपेक्षित है । इस नियम के सम्बन्ध में हेमचन्द्र ने स्वयम्भू का पूर्णतः अनुसरण किया है ।

इसी 'उत्साहदीनि' अध्याय में स्वयम्भू ने दोहा, मात्रा, रड्डा, वदनक, उपवदनक, मडिल्ला, अडिल्ला, धवला, मंगला आदि छंदों का विवेचन किया है । ये सभी अपभ्रंश के महत्त्वपूर्ण छंद हैं । इनमें मात्रा, दोहा और रड्डा प्राचीनतम हैं ।

मात्रा छंद स्वयम्भू के अनुसार पंचपदी है । इसके समचरणों में तीन चतुर्मात्राओं के क्रम से कुल 12 मात्राएँ होती हैं तथा विषमचरणों में क्रमशः पंचमात्रा, पंचमात्रा तथा चतुर्मात्रा तथा द्विमात्रा के क्रम से 16 मात्राएँ । तृतीय तथा पंचम चरणों की चतुर्मात्रा आदि गुरु, अन्तगुरु या सर्वगुरु नहीं हो सकती । आचार्य हेमचन्द्र (5/17) ने स्वयम्भू का पूर्णतः अनुसरण किया है । कवि दर्पणकार का मत इन दोनों से भिन्न है । इनके अनुसार इस छंद की मात्रा-व्यवस्था है - 15, 11, 15, 11, 15 । इस वैभिन्य का कारण संभवतः यह है कि स्वयम्भू ने अन्त्य वर्ण को गुरु मान लिया है ।

दोहा अपभ्रंश का अपना छंद है, इसलिए संस्कृत के प्राचीन छंद-ग्रंथों में दोहे का लक्षण-उदाहरण नहीं मिलता । डॉ. वेलकर ने द्विपचक्र को ही दोहा कहा है जो आगे चलकर इतना लोकप्रिय हुआ । स्वयम्भू ने दुवहअ (द्विपचक्र) का दो जगह (4.5, 6.90) उल्लेख किया है और दोनों ही स्थानों पर एक ही लक्षण है - विषम चरणों में 14-14 तथा समचरणों में

12-12 । इसका जो उदाहरण स्वयम्भू ने दिया है उसमें यदि पादान्त वर्ण को गुरु न माना जाय तो 13-11 का ही विधान रह जाता है । आचार्य हेमचन्द्र ने दोहक (6.20.42) का लक्षण 14-12 का ही दिया है — समे द्वादश ओजे चतुर्दश दोहकः । नन्दितादय रचित 'गाथा-लक्षण' के समय तक आकर 'दूहा' शब्द (82) प्रचलन में आ गया था किन्तु इसमें भी दूहा का लक्षण 14-12 का ही है, यद्यपि उदाहरण 13-11 का है । आगे चलकर कवि दर्पणकार ने 13-11 मात्रावाले 'दोहो' (2.15) को ही स्वीकार किया और सम-चरणों के अन्त में गुरु-लघु का विधान किया । इनके मत का समर्थन आगे चलकर 'छन्दकोश' (5.21) एवं 'प्राकृत पैगलम्' (1.78) में हुआ । आचार्य हेमचन्द्र (6.20.36), राजशेखर (छंदकोश 116) तथा स्वयम्भू (6.77) ने 'कुसुमाकुलमधुकर' नामक छंद का उल्लेख किया है जिसका लक्षण 'प्राकृत पैगलम्' के दोहे से मिलता है । 'कुसुमाकुलमधुकर' छंद के विषम-सम चरणों में क्रमशः 13-11 मात्राएँ होती हैं ।

'रड्डा' एक द्विभंगी छंद है जो मात्रा और दोहा के मेल से बनता है । इसमें 9 चरण होते हैं - पाँच मात्रा के और चार दोहा के । हेमचन्द्र के अनुसार इसके तृतीय और पंचम चरण में अनुप्रास रहता है । विवरणात्मक कविता के पहले यह अपभ्रंश-काव्यों का बड़ा लोकप्रिय छंद रहा है । सम्भवतः यह मात्रा और दोहा से भी पुराना छंद है । छंदकोश (5.34), छंदोऽनुशासन (5.23), कविदर्पण (2.35), स्वयम्भूछंद (4.11), वृत्त जाति समुच्चय (4.31), प्राकृत पैगलम् (1.133) आदि सभी छंद ग्रंथों में इसका उल्लेख पाया जाता है । प्राकृत पैगलम् (1.136) में इसके सात भेद बताए गये हैं — करभी, नंदा, मोहिनी, चारुसेना, भद्रा, राजसेना तथा ताटकिनी । स्वयम्भू में इन भेदों का उल्लेख नहीं मिलता ।

स्वयम्भू ने कुछ ऐसे शब्दों का भी प्रयोग किया है जो अवसर-विशेष पर किसी भी छंद के लिए व्यवहृत हो सकते हैं, जैसे — धवल, मंगल आदि । जब काव्य में नायक का चित्रण एक वृषभ की तरह होता है उस छंद को धवल कहते हैं — धवलणिहेण अ पुरिसो वणिज्जइ तेण सा धवला (4.16) । हेमचन्द्र द्वारा प्रस्तुत छह उदाहरणों में मात्र एक उदाहरण में ही यह परिभाषा चरितार्थ की है, शेष में नहीं । इसलिए कहा जा सकता है कि व्यावहारिक रूप में इस परिभाषा को बहुत अधिक महत्त्व नहीं दिया गया । वस्तुतः 'धवल' सामान्य शब्द है जो किसी भी छंद के साथ लगा दिया जाता है । जैसे उत्साह धवल, हेला धवल, वदन धवल, अडिला धवल आदि ।

धवल के तीन रूप होते हैं — अष्टपद, षट्पद और चतुष्पद । स्वयम्भू का अष्टपद धवल (4.17) हेमचन्द्र के यशोधवल की तरह है यद्यपि छठे तथा आठवें चरणों के सम्बन्ध में दोनों में अन्तर है । इसी प्रकार षट्पद धवल का लक्षण हेमचन्द्र से मेल नहीं खाता, विशेषतः चौथे तथा छठे चरण के सम्बन्ध में । आचार्य हेमचन्द्र (5.35) के अनुसार षट्पद धवल के प्रथम-चतुर्थ चरणों में दो षण्मात्रा तथा एक द्विमात्रा होती है न कि स्वयम्भू की तरह तीन षण्मात्रा । इसी प्रकार द्वितीय-पंचम चरणों में दो चतुर्मात्राएँ होती हैं न कि दो षण्मात्रा । स्वयम्भू का चतुष्पद धवल आचार्य हेमचन्द्र का भ्रमर धवल (5.37) है । स्वयम्भू ने गुण धवल का उल्लेख नहीं किया है जबकि हेमचन्द्र (5.36) में इसका उल्लेख है ।

'छंदशेखर' के अनुसार 'मंगल छंद' का प्रयोग विवाहादि मंगल कार्यों के लिए होता है । यदि मंगल कार्यों के लिए उत्साह, हेला, वदना, डिला आदि छंदों का गान होता है तो उसे भी उत्साह मंगल, हेला मंगल, धवल मंगल, डिला मंगल आदि कहा जाता है । स्वयम्भू ने कहा कि यदि ये निश्चित उद्देश्य को लेकर प्रयुक्त होते हैं तो ये सामान्य नाम बन जाते हैं । विवाह

के अतिरिक्त अन्य मंगल कार्यों के लिए भी इसका प्रयोग हो सकता है । स्वयम्भू ने उन छंदों के भी लक्षण दिए हैं जिनके साथ 'मंगल' शब्द जुटा है, जैसे उत्साह मंगल, हेला मंगल, वदनक मंगल आदि । इन्होंने 'मंगल' छंद की जो परिभाषा दी है वह हेमचन्द्र से सर्वथा भिन्न है । स्वयम्भू की परिभाषा के अनुसार मंगल छंद के प्रथम-द्वितीय चरणों में क्रमशः षणमात्रा, दो चतुर्मात्रा = 14 मात्रा तथा तृतीय-चतुर्थ चरणों में पौंच चतुर्मात्रा अथवा चार पंचमात्रा = 20 मात्रा होती है । हेमचन्द्र (5.39) तथा रत्नशेखर (5.26) के अनुसार इसके प्रथम-द्वितीय चरण में 20 या 21 मात्रा तथा तृतीय-चतुर्थ चरण में 22 या 23 मात्रा होती है । डॉ. वेलकर इसे अर्धसम चतुष्पदी मानते हैं ।

'षट्पदजाति' शीर्षक अध्याय के प्रारम्भ में स्वयम्भू ने ध्रुवक पर विचार किया है । अपभ्रंश काव्यों में ध्रुवक का प्रयोग उस अनुच्छेद के लिए किया जाता है, जो कडवक या सन्धि के प्रारम्भ में प्रयुक्त होता है । इसका उद्देश्य दो कडवकों को जोड़ना होता है । आचार्य हेमचन्द्र (6.1-2) ने 'ध्रुवक' नाम की सार्थकता यह कहते हुए प्रतिपादित की है कि यह सन्धि के प्रारम्भ में और कडवक के अन्त में निश्चितरूप से रहता है । स्वयम्भू इसके तीन प्रकार बताते हैं — षट्पदी, चतुष्पदी और द्विपदी । आचार्य हेमचन्द्र ने इसका विस्तृत विवेचन किया है और उन लघु चतुष्पदियों तक इसकी सीमा का विस्तार कर दिया है जिनके प्रत्येक चरण में 7 से लेकर 9 मात्राएँ तक होती हैं — पचौ ध्रुवकम् अर्थात् जिसके प्रत्येक चरण में एक पंच-मात्रा और एक चतुर्मात्रा के क्रम से कुल 9 मात्राएँ होती हैं, वह ध्रुवक है । स्वयम्भू (8.3) ने भी ध्रुवक चतुष्पदी का लक्षण बताते हुए यही बात कही है ।

बेण्णिवि चगणाई । ध्रुवए स अलाई ॥ (8.3) । इसी अध्याय में रचनाकार ने षट्पदी के तीन भेद बताए हैं - षट्पदजाति, उपजाति और अवजाति । इनमें प्रत्येक के आठ भेद होते हैं । षट्पदजाति के प्रथम, द्वितीय, चतुर्थ और पंचम चरणों में 7 मात्राएँ और तृतीय तथा षष्ठ चरणों में 10 से लेकर 17 तक की मात्राएँ होती हैं । इस प्रकार इसके आठ भेद होते हैं । उपजाति के प्रथम, द्वितीय, चतुर्थ और पंचम चरणों में 8 मात्राएँ तथा तृतीय-षष्ठ चरणों में 10 से 17 तक की मात्राएँ होती हैं । इस प्रकार इसके भी आठ प्रकार होते हैं । उपजाति के प्रथम, द्वितीय, चतुर्थ तथा पंचम चरणों में 8 मात्राएँ तथा तृतीय-षष्ठ चरणों में 10 से 17 तक की मात्राएँ होती हैं । इस प्रकार इसके भी आठ प्रकार होते हैं । षट्पदजाति के चतुर्थ प्रकार का उदाहरण स्वयम्भू ने अपने पउमचरिउ (3.3.11) से प्रस्तुत किया है जैसा कि डॉ. भायाणी ने ग्रंथ की भूमिका में स्पष्ट किया है ।

'चतुष्पदी द्विपद्यः' अध्याय में अन्तरसम चतुष्पदी और अर्धसम चतुष्पदी को वर्णित किया गया है । इन दोनों में अन्तर यह है कि अन्तरसम में प्रथम-तृतीय चरण तथा द्वितीय-चतुर्थ चरण समान होते हैं किन्तु अर्धसम चतुष्पदी में प्रथम-द्वितीय एक समान तथा तृतीय-चतुर्थ समान होते हैं । अपभ्रंश के प्रारम्भ में यह भेद माना जाता होगा किन्तु आगे चलकर यह भेद मिट गया और दोनों प्रकारों को अर्धसम चतुष्पदी ही कहने लगे । स्वयम्भू ने इस ग्रंथ में 110 प्रकार के अन्तरसम चतुष्पदियों का लक्षण-उदाहरण प्रस्तुत किया है । जहाँ तक छन्दों के उदाहरण का सम्बन्ध है । कुछ उदाहरण इन्होंने अपने ग्रंथ 'पउमचरिउ' से दिए हैं और कुछ अपभ्रंश ग्रंथों से । आगे चलकर स्वरचित उदाहरण देने की परम्परा का सूत्रपात हुआ । इस परम्परा का जोरदार रूप पंडितराज जगन्नाथ में और हिन्दी के लक्षण ग्रंथों में दिखाई पड़ता है ।

स्वयम्भू ने आठ प्रकार के अर्धसम संकीर्ण चतुष्पदी छंदों का विवेचन किया है । संकीर्ण चतुष्पदी में प्रथम-द्वितीय तथा तृतीय-चतुर्थ चरण समान तथा बराबर मात्रा के होते हैं । इसके प्रत्येक चरण में 7 से लेकर 17 तक की मात्राएँ होती हैं । हेमचन्द्र (6.21) ने भी संकीर्ण चतुष्पदी छंदों का विवेचन किया है ।

'शेष द्विपद्याः' शीर्षक अध्याय में स्वयम्भू ने निर्देशित किया है कि जिसके प्रत्येक चरण में 27 से लेकर 41 तक की मात्रा हो उसे 'ध्रुवक' के रूप में व्यवहृत किया जा सकता है तथा मंगल, अनुनय, भूतकालीन घटनाओं की व्याख्या एवं कथन के सारांश के रूप में भी इनका प्रयोग सम्भव है ।

'उत्थकादयः' अध्याय में उत्थक, मदनावतार, ध्रुवक, सात प्रकार की छड्डुणिका, तीन प्रकार का घत्ता, पञ्चटिका और रास का वर्णन है । उत्थक का विवेचन स्वयम्भू के अतिरिक्त किसी भी अन्य छन्दशास्त्री ने नहीं किया है । मदनावतार का वर्णन हेमचन्द्र ने खंजक प्रकरण के अन्तर्गत किया है किन्तु स्वयम्भू ने इसका स्वतंत्र विवेचन किया है । मदनावतार को नन्दितादय (76) ने चन्द्रानन नाम दिया है । 'ध्रुवक' चतुष्पदी छंद है और इसके प्रत्येक चरण में 9 मात्राएँ होती हैं । स्वयम्भू ने सात प्रकार की छड्डुणिका का उल्लेख किया है जिनमें पाँच अर्धसम चतुष्पदी हैं, एक विषम चतुष्पदी और एक षट्पदी है । इसी प्रकार तीन प्रकार के घत्ता में एक अर्धसम चतुष्पदी और सर्वसम चतुष्पदी है । स्वयम्भू के अनुसार सधि के प्रारम्भ में घत्ता, द्विपदी, गाथा, अडिल्ला, मात्रा या पञ्चटिका होनी चाहिए और कडवक के अन्त में छड्डुणिका का प्रयोग होना चाहिए (स्वयम्भूछंद, उत्तर भाग-8.20) । स्वयम्भू ने लिखा है कि घत्ता, छड्डुणिका और विदारिका के अनेक प्रकार होते हैं । वस्तुतः अपभ्रंश प्रबन्ध काव्यों में कडवक के अन्त में भी घत्ता देने का विधान है । भविसयत्कहा (सधि 12, 13, 14) में इसके उदाहरण देखे जा सकते हैं । स्वयम्भू ने तीन प्रकार के घत्ता छंद का उल्लेख किया है — दो सर्वसम चतुष्पदी और एक अर्धसम चतुष्पदी । एक सर्वसम चतुष्पदी घत्ता के प्रत्येक चरण में 12 मात्राएँ होती हैं । दूसरे प्रकार का सर्वसम चतुष्पदी घत्ता छंद वह है जिसके प्रत्येक चरण में चार चतुर्मात्रा (प्रायः भगन SII) के क्रम से 16 मात्राएँ होती हैं । तीसरे प्रकार का अर्धसम चतुष्पदी घत्ता छंद वह है जिसके विषम चरणों में 9 और सम चरणों में 14 मात्राएँ होती हैं । 'छंदकोश' के रचयिता राजशेखर (छंदकोश, 43) ने एक अन्य अर्धसम चतुष्पदी घत्ता का रूप बताते हुए लिखा है कि इसके विषम चरणों में 18-18 तथा सम चरणों में 13-13 मात्राएँ होती हैं ।

पद्धटिका, पञ्चटिका या पद्धडिया अपभ्रंश काव्यों का प्रिय छंद रहा है । बौद्ध सिद्धों के चर्यापदों से लेकर मध्य-युगीन हिन्दी कविता तक इसका प्रयोग होता रहा है । यह सोलह मात्राओं का सम चतुष्पदी छंद है । प्राकृत पैंगलम (1.125) के अनुसार अन्तिम चतुष्कल का जगण होना अनिवार्य है । स्वयम्भू ने जगणान्तविधान को आवश्यक नहीं माना है ।

स्वयम्भू के अनुसार —

विहिं पअहिं जमउ ते णिम्म अति ।

कडवअ अट्टहिं जमअहिं रअन्ति ॥ (उत्तर भाग, 8/15)

अर्थात् दो पदों का एक यमक होता है और आठ यमकों का एक कडवक । इस हिसाब से 16 पक्तियों का एक कडवक होना चाहिए किन्तु व्यवहार में ऐसा नहीं होता । हेमचन्द्र इस संबंध में अधिक व्यवहारवादी हैं । उनके अनुसार चार पद्धडिया यानी आठ पक्तियों का एक कडवक

होता है और हर एक कडवक के अन्त में घत्ता । इसी बात को नाथूराम प्रेमी ने लिखा है - "अपभ्रंश काव्यों में सर्ग की जगह प्रायः सन्धि का व्यवहार किया जाता है । प्रत्येक सन्धि में प्रायः अनेक कडवक होते हैं । और एक कडवक आठ यमकों का तथा एक यमक दो पदों का होता है । एक पद में यदि वह पदद्विधा-बंध हो तो 16 मात्राएँ होती हैं । हेमचन्द्र के अनुसार चार पदद्विधा यानी आठ पक्तियों का कडवक होता है । हर एक कडवक के अन्त में एक घत्ता या ध्रुवक होता है ।"¹

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का अभिमत है - "जिस प्रकार आजकल हम लोग चौपाई लिखने में तुलसीदास की श्रेष्ठता बतलाया करते हैं, उसी प्रकार स्वयम्भू ने चउम्मुह या चतुर्मुख को पदद्विधा का राजा बताया था ।"

"अपभ्रंश काव्यों में पदद्विधा-बन्ध अत्यन्त प्रचलित था । यह चौपाई के समीप का छंद है । कभी-कभी तो पदद्विधा से चौपाई का अर्थ ले लिया जाता है ।"²

इसी प्रसंग में रचनाकार ने सधि-बंध और रासा-बंध का उल्लेख किया है । सामान्यतः प्रबन्ध काव्य सधि-बंध होते हैं । जैसा कि ऊपर कहा गया है अपभ्रंश के प्रबन्ध काव्यों में सर्ग की जगह सधि का ही व्यवहार होता है । एक सधि में अनेक कडवक होते हैं । स्वयं स्वयम्भू रचित 'पउमचरित' 90 सधियों में और 'रिदुणेमिचरित' 112 सन्धियों में रचित है । पुष्पदंत का महापुराण भी सन्धि-बन्ध महाकाव्य है ।

स्वयम्भू ने रासक और रासाबन्ध दोनों का उल्लेख किया है । रासक छंद विशेष भी है और काव्यरूप भी । रासा छंद 21 मात्राओं का समचतुष्पदी छंद है । इसमें 14 मात्रा पर यति होती है और अंतिम तीन मात्राएँ लघु होती हैं ।

रासा-बन्ध काव्य एक प्रकार का गीति-काव्य (Lyric-Poetry) था । हरिवंश पुराण (विष्णु पर्व, 35) एवं विष्णु-पुराण (पंचम अंश, 49-50) में गोपालों के नृत्य के रूप में 'रास' का उल्लेख मिलता है । बाणभट्ट के हर्षचरित में उल्लेख मिलता है कि रास में नृत्य का भी आयोजन होता था ।³ बाणभट्ट ने रासक मण्डल की उपमा आवर्त से दी है - सावर्त इव रासक मण्डलैः ।⁴ नृत्य के अतिरिक्त गेय तत्व का समावेश भी इसमें था । 'हर्षचरित' में 'अश्लील रासक पदानि'⁵ का उल्लेख आता है । डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल ने इसका अर्थ स्त्रियों द्वारा गाये जानेवाले गीतों से लगाया है । अतः रासक में उसका गेयरूप उतना ही महत्त्वपूर्ण था, जितना नृत्यरूप । कालान्तर में 11वीं शताब्दी तक आते-आते रासक में नृत्य तत्व का अभाव होने लगा और गेय तत्व प्रमुख हो गया । 12वीं सदी के जैन आचार्य हेमचन्द्र ने (काव्यानुशासन, 8.4) रासक की गणना गेय उपरूपकों में की है । उन्होंने गेय उपरूपकों में डोम्बिका, भरण, प्रस्थान, भाणिका, प्रेरक, रामा क्रीड, हल्लीसक, रासक, गोष्ठी आदि के नाम गिनाए हैं ।

गेय डोम्बिका भरण प्रस्थान शिगकभाणिका प्रेरण रामा क्रीड ।

हल्लीसक रासक गोष्ठी श्रीगदित राग काव्यादि ॥

- काव्यानुशासन, 8.4

हेमचन्द्र के अनुसार रासक एक उद्धत प्रधान गेय उपरूपक है जिसमें थोड़ा बहुत मसृण का भी प्रवेश हो जाया करता है । आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की मान्यता है कि रासक में बहुत-सी नर्तकियाँ विचित्र ताल-लय के साथ योग देती थीं ।⁶ साहित्य-दर्पण (षष्ठ परिच्छेद) में नाट्य रासक

और रासक नामक दो उपरूपकों के लक्षण मिलते हैं । डॉ. कीथ ने नाट्य रासक को 'समूह नृत्य' और 'ताल नृत्य' कहा है ।⁷

वृत्तजाति समुच्चय (4.29-38) में अपभ्रंश छंदों के विवेचन के क्रम में 'रासक' की व्याख्या करते हुए विरहांक ने लिखा है कि अनेक अड्डियों, दुहवओं, रड्डाओं और ढोसाओं से रचित होता है उसे रासक कहते हैं —

अड्डिलाहिं दुवहएहिं व मत्तारड्डाहिं तह अ ढोसाहिं ।

बहुएहिं जो रड्डज्जई सो भण्णइ रासओ णाम ॥ (4.38)

स्वयम्भू के अनुसार —

घत्ता छड्डुणिआहिं पढड्डिआ सुअण्णरुएहिं ।

रासाबन्धो कव्वे जणमणअहिरामओ होइ ॥ (उत्तर 8.24)

अर्थात् घत्ता, छड्डुणिका, पढड्डिका तथा अन्य मनोहर अक्षरवाले छन्दों से युक्त होकर रासाबन्ध जन-मन को आनन्दित करता है ।

विरहांक एवं स्वयम्भू के रासाबन्ध काव्यों में प्रयुक्त होनेवाले छन्दों के नामों में पार्थक्य दिखाई पड़ता है किन्तु ये विभिन्नताएँ अत्यधिक महत्त्व नहीं रखती । इन दोनों का अभिप्राय मात्र इतना ही है कि रासाबन्ध में वे छंद तो प्रयुक्त होते ही हैं जिनका उल्लेख किया गया है, इनके अतिरिक्त भी अन्यान्य छंद व्यवहृत होते हैं या हो सकते हैं । डॉ. हरिवल्लभ भायाणी का मत है कि रासाबन्ध में विविध प्रकार के छन्द प्रयुक्त होते हैं किन्तु रासा छंद की प्रधानता रहती है ।⁸ इस संबंध में सन्देश-रासक के सम्पादक डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी का मत है कि रासाबन्ध प्रारम्भ में नृत्यप्रधान था किन्तु उसमें क्रमशः गेय तत्त्वों का प्राधान्य होने लगा । अतः "ज्ञात होता है कि रास में गान का तत्व निरन्तर बढ़ते रहने से उस विशिष्ट गान को ही लोग 'रासा' कहने लगे और उस गान का छंद 'रासा छंद' हो गया ।"⁹

बारहवीं शताब्दी के बाद रास ग्रंथों की रचना वृहत् परिणाम में हुई । इनके कथानक भी विविध हुए जैसे - पौराणिक, आध्यात्मिक, नैतिक, लौकिक, प्रेम संबंधी इत्यादि । ये सभी रासो या रास नाम से अभिहित हुए । इसी से डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी का कथन है — "धीरे-धीरे इन शब्दों का प्रयोग कुछ घिसे अर्थों में होने लगा । जिस प्रकार 'विलास' नाम देकर चरित-काव्य लिखे गये, 'रूपक' नाम देकर चरित-काव्य लिखे गये, 'प्रकाश' नाम देकर चरितकाव्य लिखे गये, उसी प्रकार 'रासो' या 'रासक' नाम देकर भी चरित-काव्य लिखे गये ।"¹⁰

स्वयम्भू ने सप्तताल, पंचताल, त्रिताल, समताल आदि का उल्लेख किया है (8.21-22) और कहा है कि ये सभी ताल, संगीत, वाद्य और अभिनय से संपृक्त होकर काव्य में प्रयुक्त होते हैं ।

सगीअवज्जअहिण असहुत तालमेअभिह सुणसु ।

सत्तच्छंदोरूअ सत्तताल हुवे कव्वे ॥

पंचच्छंदोरूअ पंचताल च होइ कव्वम्मि ।

तेहिं रूपहिं अ रडअ तिताल त मुणिज्जासु ॥

उन्होंने यद्यपि इनका पूर्ण विवेचन नहीं प्रस्तुत किया है किन्तु इतना अवश्य संकेतित किया है कि इनमें संगीत, वाद्य और अभिनय का प्रयोग होता है ।

वस्तुतः ये तालवृत्त हैं जो लोक-गीतों से गृहीत हैं । प्राकृत-अपभ्रंश छंद-परम्परा पर लोकगीतों का प्रभाव अवश्य पड़ा होगा और कालान्तर में इन लोक-छंदों को शास्त्रीय मान्यता मिली होगी । शास्त्रीय संगीत में स्वरों के आरोह-अवरोह का महत्त्व होता है किन्तु लोकगीतों में स्वर की अपेक्षा ताल का महत्त्व अधिक होता है । ताल में बलाघात अधिक महत्त्वपूर्ण होता है । तालगण में सभी वर्णों का उच्चारण हो, यह आवश्यक नहीं । कालमात्रा की पूर्ति के लिए वर्णों का स्वेच्छापूर्वक उच्चारण किया जा सकता है । लिखितरूप में जो वर्ण एकमात्रिक हैं, तालवृत्त में उनका उच्चारण द्विमात्रिक, त्रिमात्रिक, प्लुत कुछ भी हो सकता है । शिक्षित वर्ग स्वर-संगीत को प्रधानता देता है और जनसामान्य तालवृत्त को ।

इस प्रकार स्वयम्भू ने अपभ्रंश छंदों का संक्षिप्त किन्तु प्रामाणिक विवेचन प्रस्तुत किया है । वृत्तजाति समुच्चय, कविदर्पण, गाथा लक्षण, छन्दकोश, छंद शेखर, जानाश्रयी आदि ग्रंथों में भी छंदों का विवेचन हुआ है किन्तु किसी भी ग्रंथ में विषय का सांगोपांग विवेचन नहीं है । अवश्य आचार्य हेमचन्द्रकृत 'छन्दोऽनुशासन' छंदशास्त्र का प्रामाणिक एवं विस्तृत विवेचन करनेवाला ग्रंथ है किन्तु यह स्वयम्भू का परवर्ती है । एकमात्र 'स्वयम्भूछंद' ही ऐसा ग्रंथ है जो अपनी संक्षिप्तता के बावजूद विषय के साथ पूर्ण न्याय करता है । मौलिकता प्रदर्शन के व्यामोह में पड़कर विषय को क्लिष्ट बनाने की कृत्रिम चेष्टा भी इसमें नहीं है । अतः छंदों के विकासात्मक अध्ययन की दृष्टि से इस ग्रंथ का महत्त्व अक्षुण्ण है ।

1. जैन साहित्य और इतिहास, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ 200 ।
2. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ 94 ।
3. हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन, डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल, पृष्ठ 33 ।
4. हर्षचरित, चतुर्थ उच्छवास ।
5. हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ. 67 ।
6. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, पृ. 60 ।
7. संस्कृत ड्रामा, डॉ. कीथ, पृ. 351 ।
8. सन्देश रासक : फार्मस एण्ड स्ट्रैक्चर, पृ. 96 ।
9. सन्देश रासक, पृ. 8, प्र. — हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर लिमिटेड, बम्बई ।
10. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी ।

संपत्तउ वासारत्तु ताव

तहिं दियह जति किर कइ वि जाव, संपत्तउ वासारत्तु ताव ।
घणगयवरि तडिकच्छकियइ चडिउ धरेप्पिणु इंदधणु ।
वरिसंतु सरहिं पाउसणिवइ ण गिभे सह करइ रणु ।

कायउलइ तरुघरि सठियाइ, हंसइ सरमुयणुक्कंठियाइ ।
सरवर संजाया तुच्छणलिण, दिसभाय वि णवकसणुब्भमलिण ।
णच्चति मोर मज्जति कंक, पथिय वहति मणि गमणसक ।
चल चायप तण्हाहय लवति, पउरंदरीउ जललउ पियति ।
पवसियपियाउ कुहसल्लियाउ, महमहियउ जाइउ फुल्लियाउ ।
दिसपसरियकेयइकुसुमरेणु, चिक्खिल्ले तोसिय किडि करेणु ।
वरिसते देवे भरिउ देसु, जलु थलु संजायउ णिव्विसेसु ।
एक्कहिं मिलियाइ दिसाणणाइ, पप्फुल्लकयंबइ काणणाइ ।
अवलोइवि रामु विसायगत्यु, थिउ णियकओलि सण्हियहत्थु ।
घणु गज्जउ विज्जु वि विप्फुरउ णाडउ सिंहडि वि मूढमइ ।
विणु सीयइ पावसु राहवहु भणु कि हियवइ करइ रइ ।

महापुराण

75.11, 12

— बिजलीरूपी रस्सी से अकित मेघरूपी गज पर आरूढ़ इन्द्रघनुष लेकर पावसरूपी राजा मानो तीरों से बरसता हुआ ग्रीष्म के साथ युद्ध कर रहा हो ।

काककुल वृक्षरूपी घरों में बैठ गये । हंस सरोवरों को छोड़ने के लिए उत्सुक हो उठे । सरोवर कमलों से हीन हो गये । दिशाएँ भी काले बादलों से मलिन हो गई । मयू नाचते हैं, बगुले डुबकियाँ लगाते हैं । प्यास से व्याकुल चंचल चातक चिल्लाने लगे और मेघों का पानी पीने लगे । प्रोषितपतिकाएँ दुःख से पीड़ित हो उठीं । जुही की लताएँ महकने लगीं । केतकी-कुसुम-पराग दिशाओं में प्रसरित होने लगा । गज और सूअर कीचड़ से प्रसन्न हो उठे । मेघराज के बरसने पर देश (जल से) भर गया । जल और स्थल निर्विशेष हो गये । दिशाओं के मुख एकाकार हो गये । काननों में कदम्ब के पुष्प खिल गये । विषादग्रस्त राम उसे देखकर अपने गाल पर हाथ रखकर बैठ गये ।

मेघ गरजा, बिजली चमकी और मूढमति मोर नाच उठा । बताओ वह पावस राम के हृदय में सीता के बिना कैसे प्रेम उत्पन्न कर सकता है ।

— अनु. डॉ. देवेन्द्रकुमार जैन

णायकुमार-चरित का छंद

• डॉ. रामबरन पाठक

•

भूषण विन न विराजई, कविता वनिता मित्त ।

— केशव

संदर्भित विषय के अन्तर्गत उक्त पक्ति समीचीनता का द्योतक है । काव्यरूपी नारी का शृंगार बाह्य साज-सज्जा कलात्मकता है जो उसके सौन्दर्य में वृद्धि करती है ।

कविता के प्रधान बाह्य शृंगार हैं - छंद, अलंकार, गुण-दोषादि । 'छन्दोऽलंकार मन्जूषां' तो है ही साथ ही —

बिना व्याकरणेनान्धः, रुधिरकोषविर्जितः ।

छन्दःशास्त्रं विना पंगुः, मूकस्तं कविर्जितः ॥

छन्द के बिना कविता-रूपी नारी पंगु हो जाती है । इससे स्पष्ट हो जाता है कि काव्य में छन्द कितना महत्त्वपूर्ण है जिसको "छन्दयति आह्लादयति इति छन्दः" पक्ति भी परिभाषित करती है कि छन्द वही है जो आह्लादित करता है । 'ईशानः सर्वविद्यानाम्' के अनुसार देवाधिदेव महादेव सभी विद्याओं के अधिपति हैं । इसीलिए वे ही छन्द-शास्त्र के प्रवर्तक भी । बाद में इस विद्या का ज्ञान इन्द्र, दुश्च्यवन, वृहस्पति, भाण्डव्य, सैतव, यास्क ऋषि एवं आचार्य पिंगल से होता हुआ श्रवर्ती सभी ग्रन्थकारों को प्राप्त हुआ है । छन्द-योजना एक श्रेष्ठ कला है । इसे आत्मानुभूति का संगीत कह सकते हैं ।

अपभ्रंश काव्य प्रायः कथात्मक है। वर्णन प्रधान है, जिसमें चरित्र वर्णन का बाहुल्य। संस्कृत एवं प्राकृतपूर्व साहित्य के छन्दों के इतर अपभ्रंश साहित्य ने नये छन्दों का आविष्कार किया है जिन्होंने परवर्ती काव्य को प्रभावित किया है। हिन्दी की चौपाई, दोहा, तुकबन्दी अपभ्रंश का ही देन हैं।

प्रस्तुत चरित्त काव्य 9 सन्धियों में विखण्डित है और सन्धियों कडवकों में विभाजित। प्रत्येक कडवक में अनेक अर्धालियों एवं अन्त में एक घत्ता छन्द का समावेश है जिसका स्वरूप सन्धि ने प्रारम्भ में ध्रुवक का प्रयोग करके स्पष्ट कर दिया गया है। आलोच्य काव्य में कडवक के अन्तर्गत सर्वाधिक इकतालिस¹ अर्धालियों और कम से कम छह² अर्धालियों प्रयुक्त हैं। कुल कडवकों की संख्या 150, घत्ता की संख्या 150, ध्रुवक की संख्या 9 एवं दुवई की संख्या 32 इस काव्य में सुलभ है। दुवई छन्द का प्रयोग केवल 3 व 4 सन्धियों में किया गया है। छन्दों के विवरण में अलिल्लह³, पञ्चटिका⁴, पादाकुलक⁵, सखणारी या सोमराजी⁶, मदनावतार⁷, चारुपद⁸, दीपक⁹, प्रमाणिका¹⁰, मौक्तिकदाम¹¹, भुजंगप्रयात¹², करिमकरभुजाद्विपदी¹³, मधुमार¹⁴ व मालती¹⁵ प्राप्य हैं। सर्वाधिक अलिल्लह और पञ्चटिका छन्दों का प्रयोग है।

मात्रिक छंद

1. अडिल्ला (अलिल्लह)

इस छन्द का प्रत्येक चरण सोलह मात्राओं से युक्त होता है और दो चरणों में परस्पर तुकबन्दी होती है। चरण का अन्त दो लघु स्वरों से होता है। इस प्रकार के छन्द प्रस्तुत काव्य के सन्धि 3, 5, 7 व 9 में सुलभ हैं जिसमें 37¹⁶ कडवक सम्पूर्ण रूप से नियमबद्ध हैं अर्थात् प्रत्येक चरण में अलिल्लह छन्द का परिपालन हुआ है जबकि 22 कडवकों में प्रत्येक कडवक में 2 और 10 चरणों के बीच में पादाकुलक छन्द पर आधारित चरणों का समावेश है -

सन्धि 3	कडवक	चरण (पादाकुलक)	सन्धि 5	कडवक	चरण (पादाकुलक)
	3	2		1	4
	6	2		7	6
	7	2		8	2
	8	2		9	2
	12	2		11	8
	13	6		12	4
	17	4			
सन्धि 7	1	4	सन्धि 9	1	2
	2	2		11	4
	3	2		12	4
	4	4			
	11	10			
	12	4			
	15	6			

उदाहरणार्थ

ते बुड्ढा जे सुयण सलक्खण, सत्थकम्मविसएसु वियक्खण ।
बुद्धि बुड्ढसेवाइ पवइडइ, सो पंचगु मंतु परियइडइ ।¹⁷

2. पञ्जटिका (पञ्जटिका)

इस छन्द का भी प्रत्येक चरण सोलह मात्रा से युक्त होकर दो चरण परस्पर तुकबन्दी का होता है परन्तु प्रत्येक चरण का अन्त जगण (ISI) से होता है । इसका प्रयोग सन्धि 1, 4, 7, 9 में हुआ है जिसमें 33¹⁸ कडवक पूर्णतः पञ्जटिका छन्द का परिपालन करते हैं जबकि 15 कडवकों में 2 और 6 चरण के बीच में अलिल्लह छन्द प्रयुक्त है -

सन्धि 1	कडवक	चरण (अलिल्लह)	सन्धि 4	कडवक	चरण (अलिल्लह)
	5	6		11	4
	9	2		12	2
	10	2	सन्धि 8	1	4
	14	2		3	2
	15	4		6	6
	16	2		7	4
	17	2		13	2
				15	4

उदाहरणार्थ

अच्छइ दाइउ विससिहिसमाणु, इक्कु जि रइमदिरि कीलमाणु ।
जइ अज्जु ण हम्मइ मच्छरित्तु, तो पच्छइ देसइ दुक्खसत्तु ।¹⁹

3. पादाकुलक

आलोच्यकाव्य के अन्तर्गत सन्धि 1, 2, 4, 5, 6 व 9 में 28 पादाकुलक छन्द वर्णित हैं जिसमें 22²⁰ कडवक परिपूर्ण हैं परन्तु कडवक 5 में अलिल्लह एवं कडवक 1 में पञ्जटिका छन्द का चरण मिश्रित है ।

सन्धि 6	कडवक	चरण अलिल्लह	चरण पञ्जटिका
	8	4	
	10	10	
	11	2	
	14	4	
	15	12	
	17	-	6

इस छन्द में भी 16 मात्राओंवाले चरण होते हैं परन्तु चरण के अन्त में लघु-गुरु या गुरु-गुरु होते हैं या सभी लघु होते हैं । प्रस्तुत ग्रन्थ में पादाकुलक का प्रयोग भी बहुल है ।

उदाहरणार्थ

सुरणरविसहरवरखयरसरणु, कुसुमसर पहरहरसमवसरणु ।
 पइसरइ णिवइ पइ सरइ धुणइ, बहुभवभव कयरयपडलु धुणइ ॥²¹
 सिरि करिवि धरेव्वउ विसहरेण, केण वि दिव्वेण विहरहरेण ।
 णियतेयणिहय सोदाभिणीहि, कीलेसइ णायफणामणीहि ॥²²
 मायापियरई दुक्कियहरइ, मणिकलससमुहदप्पणकरइ ।
 उवणियघंटाचामरघयइ, अण्णहिं दिणि जिणभवणहो गयइ ॥²³
 णायकुमारहो संगे लग्गा, अज्जासा इच्छियससग्गा ।
 किण्णरिदेविमणोहरियाओ, णियपुत्तीओ जिह धरियाओ ॥²⁴

कहीं-कहीं प्रत्येक चरण में 15 मात्राएँ होती हैं परन्तु अन्तिम लघु दीर्घ माना जाता है जिसे द्विमात्रिक ही कह सकते हैं ।

उदाहरणार्थ —

णउ कहिं मि मरणदिणे उव्वरइ, चमराणिलु सासाणिलु धरइ ।
 सुह रायपट्टबधे वसइ, कि आउणिबधणु णउ ल्हसइ ॥²⁵

4. घत्ता

घत्ता (31 मात्रिक)

प्रत्येक कडक् के अन्त में आनेवाले घत्ता सन्धि 4, 5 व 8 में एक से हैं । यह दो चरणों का घत्ता षटपदी कहलाता है । जैसे —

जो मइरा चक्खइ आमिसु भक्खइ कुगुरु कुदेवहँ लग्गइ ।
 सो माणउ णट्टउ पहपब्भट्टउ पावइ भीसण दुग्गइ ॥²⁶

घत्ता (30 मात्रिक)

सन्धि 2, 9 का घत्ता जो प्रत्येक कडक् के अन्त में आये हैं, एक समान हैं जिनका अन्त लघु से हुआ है । जैसे —

णउ डसियाहरऊ भूभंगुरऊ कुसुम सरेण परज्जिउ ।
 दिट्टउ जिणवयणू थियसमणयणू कामकोहभयवज्जिउ ॥²⁷

घत्ता (28 मात्रिक)

सन्धि 1 के सभी कडक् के अन्त में आनेवाला घत्ता समान होते हुए अन्त में लघु रखता है । जैसे —

सो णविवि णरिंदहो विण्णवइ ओसारियज्जणदुरियरिणु ।
 विउलइरिणियंबहो सुरणमिउ आयउ सम्मइ परमजिणु ॥²⁸

घत्ता (24 मात्रिक)

सन्धि 3 व 6 के कडक् के अन्त में घत्ता आये हैं । सन्धि 3 के कडक् 2, 5, 6 व 8 के घत्ते का अन्त गुरु से होता है शेष सभी का अन्त लघु से हुआ है । जैसे —

आरोहणु करिवि कुमरें पयपेल्लिउ मयगलु ।
 किकरपरियरिउ णीसरिउ फुरियखगुज्जलु ॥²⁹
 मचारुडियए वज्जरिउ दिण्णसिगारहो ।
 जोवहि धरणिवइ पियधरिणि जंति घरु जारहो ॥³⁰

घत्ता (23 मात्रिक)

सन्धि 7 में प्रत्येक कडक्क के अन्त में आनेवाले घत्ता समान हैं । घत्ता 9 व 14 का अन्त दो गुरु तथा शेष का लघु से होता है । जैसे —

णिगगयाई रोसेण मणिकचणकवयं गई ।
 उहयबलई लगगाई सरवर पिहियपयंगई ॥³¹
 पुरवरे सयल पइडु कमसोहावित्थारें ।
 गुणवइ मामहो धीय परिणिय णायकुमारे ॥³²

5. ध्रुवक

ध्रुवक (31 मात्रिक)

सन्धि 4 व 8 में ध्रुवक समान होते हुए अन्त में गुरु रखता है । जैसे —

साहेप्पिणु वरकरि अवरु वि सो हरि पुरणरणियरपलोइउ ।
 तणएण सतायहो कयमुहरायहो पय पणवेप्पिणु ढोइउ ॥³³

ध्रुवक (30 मात्रिक)

सन्धि 1, 2, 5 व 9 का ध्रुवक समान है और अन्त में लघु प्रयोग हुआ है । जैसे —

परिणिवि सुद्ध सई कलहंसगई वियसियविडविणिहाणहो ।
 गयउ सणेउरेण अतेउरेण सहै णरवइ उज्जाणहो ॥³⁴

ध्रुवक (23 मात्रिक)

सन्धि 7 में ध्रुवक का अन्त लघु से होता है । जैसे —

लच्छीमइ पिउगेहे थविवि सुरासुरवदहो ।
 णायकुमारु सवीरु गउ उज्जित गिरि दहो ॥³⁵

ध्रुवक (24 मात्रिक)

सन्धि 3 व 6 का ध्रुवक समान है जिसका अन्त लघु से होता है । जैसे —

सिद्ध णमह भणेवि अट्टारह लिविउ भुअंगउ ।
 दक्खालइ सुयहो सिक्खइ मेहावि अणगउ ॥³⁶

6. दुवई

28 मात्रावाला दुवई सन्धि 3 व 4 में कडक्क के प्रारम्भ में प्रयुक्त है । सभी समान होते हुए भी उनके चरणों के अन्त में विभेद पाया जाता है । सन्धि 3 में कडक्क के प्रारम्भ में प्रयुक्त संख्या 2 व 4 के चरण का अन्त लघु-गुरु, 1, 5 व 8 का अन्त लघु-लघु और 3, 6, 7, 9, 11, 12, 14, 15, 16, 17 के चरण का अन्त गुरु-लघु-गुरु से होता है । जबकि

कडवक 10 के अन्त में क्रम से लघु-गुरु व गुरु-लघु-गुरु प्रयुक्त हैं । सन्धि 4 में मात्र 9 कडवक के प्रारम्भवाला दुवई छन्द का अन्त लघु-गुरु तथा इस सन्धि का शेष दुवई छन्द का अन्तिम चरण गुरु-लघु-गुरु से होता है । जैसे —

इय सो विसहरिंदमुहवियलिउ करिकरदीहदढभुओ ।
 सत्यु सुणंतु संतु संजायउ विउससिरोमणी सुओ ॥³⁷
 मंगलतूरभेरिणिगघोसे बहिरिउ गयणमगउ ।
 रइपीईउ बे वि ण कुमरिउ मण सियकरे विलगउ ॥³⁸
 चवइ धरित्तिणाह का गुरु का लहुई भुअणसुन्दरी ।
 भणु भणु वप्प देव कंदप्प मणोहरि कि व किण्णरी ॥³⁹

7. मदनावतार (मंजुतिलका)

इसके प्रत्येक चरण का अन्त लघु से होता है और प्रत्येक चरण में 20 मात्रा । जैसे—

णवजलहरेहिं व जललव मुअतेहिं, दढक ढिणपविवलयपरिबद्धदतेहिं ।
 रणझणियमणि किकिणीसोहमाणेहिं, अणवरयपरियलिय करडयलदाणेहिं ।
 सोवण्णसाडीणिबद्धधुद्धचिधेहिं, करणासियागहियगयणाहगधेहिं ।
 दंतग्गणिभिभण्णहरिणखरंगेहि, भूगोयरा खेयरा थिय मयगेहिं ।
 भणिय कुमारेण कयतियसतोसेण, पाविट्टु खडो सि एएण दोसेण ।
 परधरणिपरतरुणि पर दविण कंखाएँ, मरिहीसी दुच्चार खलचोर सिक्खाएँ ।
 लविय सुकंठेण मा मरसु ओसरसु, णियजीविया काम कामिणिसुहं सरसु ॥⁴⁰

8. चारुपद

इसके प्रत्येक चरण में 10 मात्रा । प्रत्येक चरण का अन्त गुरु-लघु से होता है । जैसे—

खगगेहिं छिंदति	सिल्लेहि भिंदति ।
बाणेहिं विधति	फरएहिं रुधति ।
पासेहिं वधति	दडेहिं चूरति ।
सूलेहिं हूलति	दुरएहिं पीलति ।
पाडति मोडति	लोट्टति घोट्टति ।
रोसावउण्णाई	जुज्झति सेण्णाई ।
ता भासिय तस्स	वीरस्स वालस्स ।
केणावि पुरिसेण	कयसुयणहरिसेण ।
तरुणीणिमित्तेण	हणणिक्कचित्तेण ।
दुव्वयणणामेण	रामाहिरामेण ।
रुद्धो तुहँ सामिं	मायंगगय गामि ।
तं सुणिवि विप्फुरिउ	रोसेण अइतुरिउ ।
णील इरिकरिचडिउ	अइऊण त्हो भिडिउ ।
पियवम्म उत्तस्स	रणभारजुत्तस्स । ⁴¹

9. मधुभार

प्रत्येक चरण की मात्रा 8 । अन्त लघु-लघु से होता है । जैसे —

ता णिट्टरकर	भिउडिभयंकर ।
वइरिखयंकर	णियवइसंकर ।
झसमुगगरकर	धाइयणरवर ।
पर जयसिरिहर	मयणहो किंकर ।
इयर वि अंतरे	थिय एत्थंतरे ।
दुव्वयणुंभड	सुहड महाभड ।
जयसिरिहारणे	कण्णाकारणे ।
जायउ भडणु	करसिर खंडणु ।
उयरवियारणु	पहरणवारणु ।
असिखणखणरव	हणरव रउरव ।
मयगलपेल्लणु	लोहियरेल्लणु ।
रहवर खंचणु	केसालुंचणु ।
पाडियधयवडु	सूडियहयथडु ।
छुरियायइढणु	मच्छरघणघणु ।
णिरु णिठ्ठिभच्चिहिं	जुज्जिवि भिच्चिहिं ।
कडिडय सुंदरि	ण सुवरसरि ।
सयरणदहिं	कुलणहचंदहिं ।
एत्तहिं भल्लउ	दुव्वयणुल्लउ ।
कण्णालुडउ	जमु जिह कुडउ ।
लहु सण्णदउ	पविलवियधउ ।
पयचोइयगउ	झत्ति समागउ । ⁴²

10. दीपक

प्रत्येक चरण में 10 मात्रा । अन्तिम 1 लघु । जैसे —

सगामभेरीहिं	णं पलयमारीहिं ।
भुअणं गसंतीहिं	गहिरं रसंतीहिं ।
सण्णद कुडाई	उदुदुचिंघाई ।
उवबद्धतोणाई	गुणणिहियबाणाई ।
करिचडियजोहाई	चलचामरोहाई ।
छत्तंधयाराई	पसरियवियाराई ।
वाहियतुरंगाई	चोइयमयंगाई ।

चलधूलिकविलाई	कप्पूरधवलाई	
मयणाहिकसणाई	कयणइरिवसणाई	
भडदुण्णिवाराई	रहुदिण्णधाराई	
रोसावउण्णाई	चलियाई सेण्णाई	
तिह्यणरडसस्स	लुयवइरिसी सस्स	
कुलगायण चंदस्स	अंतरणरिंदस्स	
दुग्गावहारेण	जणपायभारेण	
धरणी वि संचलइ	मंदरु वि टलटलइ	
जलणिहि वि झलझलइ	विसहरु वि च्लचलइ	
जिगिजिगिय खग्गाई	णिह्लियमग्गाई	
समरेक्कचित्ताई	गिरिणयरु पत्ताई	
सुकयाई फलियाई	मित्ताई मिलियाई	
अख्खिभरायस्स	इच्छियसहायस्स	⁴³

11. करिमकरभुजा द्विपदी

इसके चरण में 8 मात्रा और अन्त लघु-गुरु से होता है । जैसे —

परभीमयरु	विज्जाणियरु	
जाए रिसिणा	णिज्जिय अरिणा	
मणि कप्पियउ	महु अप्पियउ	
आसावसणा	पयडियदसणा	
दीहरणहरा	पिंगलचिहुरा	
बहुजंपणिया	बहुलोयणिया	
ककालिणिया	कावालिणिया	
सयसूलिणिया	लंबिरथणिया	
भीसावणिया	संतावणिया	
विद्दावणिया	सम्मोहणिया	
उम्मोहणिया	संखोहणिया	
अक्खोहणिया	उत्तारणिया	
आरोहणिया	संबोहणिया	
रिउमारणिया	णिद्दारणिया	
महिदारणिया	णहचारणिया	
जलतारणिया	सरवारणिया	
असिथंभणिया	रहरुभणिया	

बलसुभणिया	खलडंभणिया ।
जमसंखलिया	जालावलिया ।
मय विभलिया	फणिमेहलिया ।
लीलाललिया	मरुचंचलिया ।
दादुज्जलिया	रुइविज्जुलिया ।
सव्वोसहिया	वीसासुहिया ।
तारुण्णहरी	बहुरूवधरी ।
अंधारयरी	चदक्कसिरी ।
कोवारुणिया	वरवारुणिया ।
गहणासणिया	कहपेसणिया । ⁴⁴

वर्णिक छन्द

1. सोमराजी (संखणारी)

यह यगणवाले भुजंगप्रयात छन्द का आधा दो यगण (ल ग ग) युक्त छह वर्णों का छन्द है । जैसे —

इण सा भणंती	खरं णीससंती ।
कसाय सहंती	विसाय वहंती ।
णहालग्गकूड	हयाणगपीड ।
जिणण पसत्थ	घरं धत्थदुत्थ ।
गया पीलु लीला	सुधम्मा सुशीला ।
रिसीण वरिट्ठो	तहिं तीएँ दिट्ठो ।
कयाहिंदसेवो	जिणोदेव देवो ।
असगोअभंगो	जहाजायलिंगो ।
दुहाण विणासो	सुहाण णिवासो ।
गुणाण विसेणी	णयारुदवाणी ।
तमाण पईवो	तवाण पहावो ।
अगाओ अपाओ	सयासुद्धभावो ।
सयाणंतणाणी	जसुप्पत्तिखाणी ।
जलुल्लोलभंगा	सिरे णत्थि गंगा ।
गले णत्थि सप्पो	मणे णत्थि दप्पो ।
करे णत्थि सूलं	विसालं कवालं ।
उरे मुडमाला	ण सेलिंदबाला ।
अहाण रउहो	तुमं देव रुहो ।
इसी मोक्खगामी	तुमं मज्झ सामी ।
फुड देहि बोही	विसुद्धा समाही । ⁴⁵

2. भुजंगप्रयात

यह बारह वर्णिक छन्द है जिसमें चार यगण होते हैं जिसमें क्रम से लघु-गुरु-गुरु आते हैं । यथा -

णदिण जाइंददेविंदवदोथुओ, देव देवो अणिदो जिणिदो ।
महापंचकल्लाणणाहिणाणो, सया चाम रोहेण विज्जिज्जमाणो ॥⁴⁶

3. प्रमाणिका

इसमें 8 वर्ण होते हैं और वे लघु-गुरु क्रम से आते हैं । यथा -

तओमुणिदजपिय	मणे वरं थिरं थिय ।
सुतारहारपंडुरं	गया सई समदिरं ।
णिबद्धणीलतोरण	विचित्त मत्तवारणं ।
रसंतमत्तवारणं	दिवायरं सुवारणं ।
सुहेमभित्तिपिगलं	अणेयगेय मंगलं । ⁴⁷

4. मौक्तिकदाम

यह मालती छन्द का दुगुना होता है, इसमें 12 वर्ण होते हैं, वे चार जगणों में होते हैं । यथा -

गएहिं दिणेहिं कएहिं मि अण्णु, मुणी मण्णुत्तु बह्णुणपुण्णु ।
मडंबसुगामपुराईं चयंतु, चउव्विहसंधसमाणु महंतु ।
खमाए महोवहि मेरु व तुंगु, ससी व सुसोमु सुतेय पयंगु ।
समीरणु णाईं वलेण महंतु, बह्णुभवदुक्खविणासु करंतु ।
मलंतु दलंतु असेसु वि कम्म, जरामरणुभवणासियजम्म ॥⁴⁸

5. मालती

यह छन्द छह वर्णिक है । इसमें दो जगण होते हैं । यथा -

णवेवि मुणिदु	भवीयण चंदु ।
घरम्मि छुहेवि	चउक्के ठवेवि ।
समच्चिवि पाय	विहीएँ जवाय ।
पुणो वि णमंतु	तिलोय महंतु ।
करे वि समुद्ध	तहो सएँ छुद्ध ।
मुणीण सजोग्गु	सच्चित्तु अजोग्गु ।
ण देइ भवीउ	असुद्ध सवीउ ।
सुभोयणु देवि	सतो सु करेवि । ⁴⁹

इस प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थ में महाकवि पुष्पदन्त ने 9 सन्धियों में 150 कडवकों को लिपिबद्ध किया है । इन सन्धियों के अन्तर्गत विभिन्न छन्दों के प्रयोग ने इस ग्रन्थ को महत्त्वपूर्ण बना दिया है जिसका विवरण निम्न सारणी से द्रष्टव्य है -

क्रमांक	छन्द नाम	कडवक
1	अलिल्लह	59
2	पद्धडिया	48
3	पादाकुलक	28
4	संखणारी	4
5	मदनावतार	2
6	चारुपद	2
7	दीपक	1
8	मालती	1
9	भुजंगप्रयात	1
10	प्रमाणिका	1
11	करिमकरभुजाद्विपदी	1
12	मौक्तिकदाम	1
13	मधुभार	1-150
14	दुवई	32
15	घत्ता	50
16	ध्रुवक	9

-
1. 9.21
 2. 7.12
 3. 3.1.17
5.1-3, 6-9, 11-13
7.1-4, 6-10, 11-12, 14-15
9.1-15, 19, 22, 25
 4. 1.1-10, 12-18
4.1-9, 11-15
2.1-16
 5. 1.11
2. 1, 4, 6-10, 12-14
4. 10,
5. 10
6. 1-5, 7-12, 14-15
 6. 2.3; 5.3, 6.13, 9.17
 7. 7.13, 9.20
 8. 5.5, 2.2

9. 7.5
10. 2.5
11. 9.26
12. 2.11
13. 6.6
14. 5.4
15. 9.21
16. 3.1-2, 4-5, 9-11, 14-16,
5.2, 3, 6, 13,
7.6-10, 14
9.2-10, 13-15, 19, 22-25
17. 3.2.1-2
18. 1-1.4, 6-7, 9, 12, 14, 16, 18,
4.1-9, 13-15,
8.2, 4-5, 8-12, 14-16,
9.16
19. 4.14. 1-2
20. 1.11, 2.2, 4, 6-10, 12-14,
4.10
5.10
6. 1-5, 7, 9-12, 9-18
21. 1.11. 1-2
22. 2.8. 4-5
23. 2.10. 2-3
24. 5.10. 3-4
25. 6.4. 3-4
26. 4. 2.18
27. 2. 10.11
28. 1. 8.12
29. 3. 9.16
30. 3. 8.16
31. 7. 6.13
32. 7. 9.10
33. 4.1
34. 2.1

- 35. 7.1
- 36. 3.1
- 37. 3.4
- 38. 3.8
- 39. 3.6
- 40. 7.13. 1.7
- 41. 5.5. 1-14
- 42. 5.4. 1-21
- 43. 7.5. 1-20
- 44. 6.6. 1-27
- 45. 2.3. 1-20
- 46. 2.11. 1-2
- 47. 2. 5. 1-5
- 48. 9.16. 1-5
- 49. 9.21. 1-8

नील पलास रत्त हुय किसुय

मालइकुसुमु भमरु जिह वज्जइ, घरें घरें गहिरु तूर तिह वज्जइ ।
 वियसियकुसुमु जाउ अइमुत्तउ, घुम्मइ कामिणियणु अइ-मुत्तउ ।
 दरिसिउ कुसुमनियरु वेयल्ले, पहिए घरु गम्मइँ वेयल्ले ।
 नील पलास रत्त हुय किसुय, भंतचित्तु जणु जाणइ कि सुय ।
 तुरयहिँ अल्लहज्जि नच्चिज्जइ, नववसंतु तरुणिहिँ नच्चिज्जइ ।
 दावानलु पुलिंदजणु लायइ, सरधोरणि अणंगु गुणे लायइ ।
 मंदु-मंदु मलयानिलु वायइ, महरसददु जणु वल्लइ वायइ ।
 अह तहिँ सियपचमिहिँ वसंतहो, नदणवणे देवउले वसंतहो ।
 फणमणितेओहामियजलणहो, करइ जत्त नायहो जणु जलणहो ।

जंबूसामिचरिउ 3.12

— जिस प्रकार भ्रमर मालती पुष्प से भयभीत (त्रस्त, निराश) हो गुंजार करने लगता है, उसी प्रकार घर-घर में गंभीर तूर बजने लगा । अतिमुक्तक का फूल जैसे खिलता है वैसे ही कामिनीजन अत्यन्त स्वच्छन्द होकर घूमने लगीं । विचकिल्ल के वृक्ष ने जैसे कुसुम-समूह को दर्शाया वैसे ही पथिक वेगपूर्वक घर जाने लगे । पलाश नीले (हरित) हो गये और किशुक लाल, परन्तु भ्रान्तचित्त को लगा कि कहीं ये शुक्र पक्षी तो नहीं हैं । जिस प्रकार गीले चनों को (देखकर) घोड़े नाचने लगते हैं उसी प्रकार नववसन्त को (देखकर) तरुणियां नाचने लगीं । पुलिन्द (भील) दावानल लगाने लगे, कामदेव धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ाने लगा । मन्द-मन्द मलयपवन बहने लगा और लोग मधुर स्वर से वीणा (वल्लकी) बजाने लगे । अथानन्तर वहीं वसन्त की शुक्ल पंचमी के दिन, नन्दनवन के देवालय में रहनेवाले, अपने फणमणि के तेज से अग्नि के तेज को तिरस्कृत करनेवाले, ज्वलन नामके नागदेव की यात्रा के लिए लोग चले ।

— अनु., डॉ. विमलप्रकाश जैन

योगीन्दु मुनि

• डॉ. वासुदेवसिंह

अपने अन्तःप्रकाश से सहस्रों के तमपूर्ण जीवन में ज्योति की शिक्षा प्रज्वलित करनेवाले अनेक भारतीय साधकों, विचारकों और संतों का जीवन आज भी तिमिराच्छन्न है। ये साधक अपने सम्बन्ध में कुछ कहना संभवतः अपने स्वभाव और परिपाटी के विशुद्ध समझते थे। इसीलिए अपने कार्यों और चरित्रों को अधिकाधिक गुप्त रखने का प्रयास करते थे। यही कारण है कि आज हम उन मनीषियों के जीवन के सम्बन्ध में कोई प्रामाणिक और विस्तृत तथ्य जानने से वंचित रह जाते हैं और उन तक पहुँचने के लिए परोक्ष मार्गों का सहारा लेते हैं, कल्पना की उड़ानें भरते हैं और अनुमान की बातें करते हैं।

नामकरण

श्री योगीन्दु देव भी एक ऐसे साधक और कवि हो गए हैं जिनके विषय में प्रामाणिक तथ्यों का अभाव है। यहाँ तक कि उनके नामकरण, काल-निर्णय और ग्रंथों के सम्बन्ध में काफी मतभेद है। परमात्मप्रकाश में उनका नाम 'जोइन्दु'¹ आया है। ब्रह्मदेव ने 'परमात्मप्रकाश' की टीका में आपको सर्वत्र 'योगीन्दु'² लिखा है। श्रुतसागर ने 'योगीन्द्रदेव नाम्ना भट्टारकेण'³ कहा है। परमात्मप्रकाश की कुछ हस्तलिखित प्रतियों में 'योगेन्द्र' शब्द का प्रयोग हुआ है। 'योगसार' के अन्तिम दोहे में 'जोगिचन्द'⁴ नाम आया है। मुझे योगसार की दो हस्तलिखित प्रतियाँ जयपुर के शास्त्र भाण्डारों में देखने को मिलीं। एक प्रति (गुटका नं. 54) आमेर शास्त्र भाण्डार में, दूसरी 'ठोलियों के मन्दिर के शास्त्र भाण्डार' में सुरक्षित है। इस प्रति

का लिपि काल सं. 1827 है — “सं. 1827 मिति काती व्दी 13 लिखि ।” ठोलियो के मन्दिरवाली प्रति के अन्त में लिखा है — ‘इति योगेन्द देव कृत-प्राकृत दोहा के आत्मोपदेश सम्पूर्ण ।’

उक्त प्रति का अन्तिम दोहा इस प्रकार है —

संसारह भयभीतएण जोगचन्द मुणिएण ।

अप्पा संवोहण कथा दोहा कव्वु मिणेण ॥108॥

श्री ए. एन. उपाध्ये द्वारा सम्पादित योगसार के दोहा नं. 108 से यह थोड़ा भिन्न है। इसके प्रथम चरण में ‘भयभीयएण’ के स्थान पर ‘भयभीतएण’, ‘जोगिचन्द’ के स्थान पर ‘जोगचन्द’ और द्वितीय चरण में ‘इक्कमणेण’ के स्थान पर ‘कव्वु मिणेण’ का प्रयोग हुआ है।

कवि ने अपने को ‘जोइन्दु’ या ‘जोगचन्द’ (जोगिचन्द) ही कहा है, यह परमात्मप्रकाश और योगसार में प्रयुक्त नामों से स्पष्ट है। ‘इन्दु’ और ‘चन्द्र’ पर्यायवाची शब्द हैं। व्यक्तिवाची संज्ञा के पर्यायवाची प्रयोग भारतीय काव्य में पाये जाते हैं। श्री ए. एन. उपाध्ये ने भागेन्दु (भागचन्द्र) शुभेन्दु (शुभचन्द्र) आदि उद्धरण देकर इस तथ्य की पुष्टि की है⁵। गोस्वामी तुलसीदास के ‘रामचरित मानस’ में व्यक्तिवाची संज्ञाओं के पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग बहुत हुआ है। ‘सुग्रीव’ का सुकंठ, ‘हिरण्यकशिपु’ का ‘कनककशिपु’, ‘हिरण्ययाक्ष’ का ‘हाटकलोचन’, ‘मेघनाद’ का ‘वारिदनाद’, और ‘दशानन’ का ‘दशमुख’ आदि प्रयोग प्रायः देखने को मिल जाते हैं। श्री ब्रह्मदेव ने अपनी टीका में ‘जोइन्दु’ का संस्कृत रूपान्तर ‘योगीन्दु’ कर दिया। इसी आधार पर परवर्ती टीकाकारों और लिपिकारों ने ‘योगीन्द्र’ शब्द को मान्यता दी। किन्तु यह प्रयोग गलत है। कवि का वास्तविक नाम ‘जोइन्दु, योगीन्दु या जोगिचन्द’ ही है। तीनों एक ही शब्द के भिन्न-भिन्न रूप हैं।

काल-निर्णय

‘जोइन्दु’ के नामकरण के समान ही उनके काल-निर्णय पर भी मतभेद है, और उनको ईसा की छठी शताब्दी से लेकर 12वीं शताब्दी तक घसीटा जाता है। श्री गौधी ‘अपभ्रंश काव्यत्रयी’ की भूमिका (पृ. 102-103) में ‘जोइन्दु’ को प्राकृत वैयाकरण चण्ड से भी पुराना सिद्ध करते हैं। इस प्रकार वे इनका समय विक्रम की छठी शताब्दी मानते जान पड़ते हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी आपको आठवीं-नवीं शताब्दी का कवि मानते हैं⁶। श्री मधुसूदन मोदी ने (अपभ्रंश पाठावली, टिप्पणी, पृ. 77, 79) आपको दशवीं शती में वर्तमान होना सिद्ध किया है। श्री उदयसिंह भटनगर ने लिखा है कि प्रसिद्ध जैन साधु जोइन्दु (योगीन्दु) जो एक महान विद्वान वैयाकरण और कवि था, सम्भवतः चित्तौड़ का ही निवासी था। इसका समय विक्रम की 10वीं शती में था।⁷ हिन्दी साहित्य के वृहत् इतिहास में आपको ‘11वीं शती से पुराना’ माना गया है।⁸ श्री कामताप्रसाद जैन आपको बारहवीं शताब्दी का ‘पुरानी हिन्दी’ का कवि बताते हैं।⁹ श्री ए. एन. उपाध्ये ने कई विद्वानों के तर्कों का सप्रमाण खण्डन करते हुए योगीन्दु को ईसा की छठी शताब्दी का होना निश्चित किया है।¹⁰ ‘योगीन्दु’ के आविर्भाव सम्बन्धी इतने मतभेदों का कारण उनके सम्बन्ध में किसी प्रामाणिक तथ्य का अभाव है। श्री ए. एन. उपाध्ये को छोड़कर अन्य किसी ने न तो योगीन्दु पर विस्तार से विचार किया है और न अपनी मान्यता के पक्ष में कोई सबल तर्क ही उपस्थित किया है। किन्तु श्री उपाध्ये ने जो समय निश्चित किया है, उसको भी सहसा स्वीकार नहीं किया जा सकता। इसके दो कारण हैं। प्रथमतः योगीन्दु की रचनाओं में कुछ ऐसे दोहे मिलते हैं जिससे यह स्पष्ट होता है कि वह सिद्धों और नाथों के विचारों से प्रभावित थे। वही शब्दावली, वही बातें, वही प्रयोग योगीन्दु की रचनाओं में पाये जाते हैं, जो बौद्ध, शैव, शाक्त आदि योगियों और तान्त्रिकों में प्राप्त होते हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने ठीक ही लिखा

है कि अगर उनकी रचनाओं के ऊपर से 'जैन' विशेषण हटा दिया जाय तो वे योगियों और तान्त्रिकों की रचनाओं से बहुत भिन्न नहीं लगेगी । वे ही शब्द, वे ही भाव और वे ही प्रयोग घूम-फिर कर उस युग के सभी साधकों के अनुभवों में आया करते थे ।¹¹ यहाँ पर इतना कह देना हम आवश्यक समझते हैं कि योगीन्दु तथा अन्य समकालीन सिद्ध, नाथ आदि 'आत्मतत्त्व' की उपलब्धि के सम्बन्ध में लगभग एक ही बात कहते दिखाई पड़ते हैं । कम से कम बाह्याचार का विरोध, चित्त-शुद्धि पर जोर देना, शरीर को ही समस्त साधनाओं का केन्द्र समझना और समरसी भाव से स्वसवेदन आनन्द का उपभोग-वर्णन सभी कवियों में मिल जाते हैं ।

सिद्ध-युग ईसा की आठवीं से ग्यारहवीं सदी तक माना जाता है और 'सरहपाद' आदि सिद्ध माने जाते हैं । राहुलजी के अनुसार आपकी मृत्यु सन् 780 ई. के लगभग हुई थी। इसी शताब्दी से बौद्धधर्म हीनयान और महायान के विकास की चरम सीमा पर पहुँचकर अब एक नई दिशा लेने की तैयारी कर रहा था, जब उसे मन्त्रयान, वज्रयान, सहजयान की संज्ञा मिलने वाली थी और जिसके प्रथम प्रणेता स्वयं सरहपाद थे ।¹² इसके पश्चात् सिद्ध परम्परा में शबरपा (780 ई.), भुसुकपा (800 ई.), लुईपा (830 ई.), डोम्बिपा (840 ई.), दारिकपा (840 ई.), गुण्डरीपा (840 ई.), कुक्कुरीपा (840 ई.), कमरिपा (840 ई.), कणहपा (840 ई.), गोरक्षपा (845 ई.), टेंटणपा (850 ई.), महीपा (870 ई.), भादेपा (870 ई.), धामपा (870 ई.) आदि सिद्ध आते हैं ।¹³ कहने का तात्पर्य यह है कि आठवीं शताब्दी के प्रारम्भ से भारतीय धर्म-साधना के क्षेत्र में नये विचारों का समावेश प्रारम्भ होता है और विभिन्न सम्प्रदायों और पंथों के संत प्रायः एक ही स्वर में आत्मा, परमात्मा आदि विषयों पर विचार करना प्रारम्भ करते हैं । यहाँ तक कि जैनधर्म भी इससे अछूता नहीं रह जाता है । योगीन्दु सम्भवतः ऐसे पहले जैन मुनि थे, जो इस प्रभाव में आते हैं । अतएव उनका समय आठवीं शताब्दी के पूर्व नहीं हो सकता। नए धार्मिक मोड़ पर विचार करते हुए महापण्डित राहुल सांकृत्यायन भी कुछ इसी प्रकार की बात कहते हैं — "जैनधर्म के बारे में यह बात उतने जोर से नहीं कही जा सकती, पर वहाँ भी योगीन्दु, रामसिंह जैसे संतों को हम नया राग अलापते देखते हैं, जिसमें समन्वय की भावना ज्यादा मिलती है" ।¹⁴ राहुल के उक्त कथन से यह ध्वनि निकलती है कि योगीन्दु और मुनि रामसिंह आठवीं सदी के पूर्व नहीं हुए होंगे ।

भाषा की दृष्टि से विचार करने पर भी योगीन्दु का रचनाकाल आठवीं-नवीं शती ही ठहरता है । आपके 'परमात्मप्रकाश' और 'योगसार' अपभ्रंश भाषा के ग्रंथ हैं । अपभ्रंश भाषा एक परिनिष्ठित भाषा — साहित्यिक भाषा के रूप में कब आई ? इस पर विद्वान एकमत नहीं हैं । वैसे 'अपभ्रंश' शब्द काफी प्राचीन है । सम्भवतः इसका प्रथम प्रयोग ईसा पूर्व दूसरी शती के पातञ्जलि-महाभाष्य में मिलता है । इसके पश्चात् व्याडि, दंडी आदि के द्वारा 'अपभ्रंश' शब्द का प्रयोग हुआ है । किन्तु भाषा के लिए इसका प्रयोग छठी शताब्दी के पूर्व नहीं मिलता । भाषा के अर्थ में अपभ्रंश शब्द का प्रयोग स्पष्टरूप से छठी शती ईस्वी में प्राकृत वैयाकरण चण्ड, बलभी के राजा धरसेन द्वितीय के ताम्रपत्र, भामह और दंडी के अलंकार ग्रंथों में मिलता है ।¹⁵ भाषा का यह नियम है कि वह संयोगात्मक अवस्था से वियोगात्मक अवस्था और फिर वियोगात्मक अवस्था से संयोगात्मक अवस्था के रूप में विकसित होती रहती है । संस्कृत श्लिष्ट भाषा थी । उसके पश्चात् पालि, प्राकृत और अपभ्रंश क्रमशः अधिकाधिक अश्लिष्ट होती गयी । उनमें सरलीकरण की प्रवृत्ति आती गई । धातु-रूप, कारक-रूप आदि कम होते गये । अपभ्रंश तक आते-आते भाषा का अश्लिष्ट रूप अधिक स्पष्ट हो गया । वास्तव में अपभ्रंश संस्कृत - पालि - प्राकृत के श्लिष्ट भाषाकुल से उत्पन्न पर अश्लिष्ट होने से एक नए प्रकार की भाषा है और हिन्दी के बहुत निकट है ।

श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने तो अपभ्रंश को 'पुरानी हिन्दी' माना है और अपभ्रंश साहित्य के अनेक उद्धरणों का विश्लेषण करके इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि ये उद्धरण अपभ्रंश कहे जाएँ, किन्तु ये उस समय की पुरानी हिन्दी ही है, वर्तमान हिन्दी साहित्य से उनका परम्परागत सम्बन्ध वाक्य और अर्थ से स्थान-स्थान पर स्पष्ट होगा।¹⁶ भाषा के विकास-क्रम में ऐसा समय भी आता है जब कि एक भाषा अपने स्थान से हटने लगती है और दूसरी भाषा उसका स्थान ग्रहण करने के लिए सक्रिय हो उठती है। इसको भाषा का संक्रान्ति युग कहते हैं। ऐसे संक्रान्ति युग संस्कृति-पालि, पालि-प्राकृत, प्राकृत-अपभ्रंश और अपभ्रंश-हिन्दी के बीच में आये हैं। छठी शताब्दी को प्राकृत-अपभ्रंश का संक्रान्ति युग माना जाता है, जब कि प्राकृत के स्थान पर अपभ्रंश साहित्यिक भाषा का स्थान ले रही थी और कविगण अपभ्रंश की ओर झुक रहे थे। किन्तु अभी अपभ्रंश का स्वरूप-निर्देश नहीं हो सका था। उसके अनेक प्रयोग प्राकृत के से थे। योगीन्दु मुनि के 'परमात्मप्रकाश' और विशेष रूप से 'योगसार' की जो भाषा है, उसे हम छठी शताब्दी की नहीं मान सकते, क्योंकि उस समय की भाषा में अचानक इतनी वियोगात्मकता और सरलता आ जाय (जैसी की योगसार में है) इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। 'योगसार' के कुछ दोहों से स्पष्ट हो जाएगा कि वे हिन्दी के कितने निकट हैं —

देहादिउ जे परि कहिया ते अप्पाणु ण होहिं ।

इउ जाणेविणु जीव तुहँ अप्पा अप्प मुणेहि ॥11॥

चउरासी-लक्खहि फिरिउ कालु अणाइ अणतु ।

पर सम्मत्तु ण लद्ध जिय एहउ जाणि णिभत्तु ॥25॥

उक्त दोहों में देहादिउ, जे, परि, ते, होहि, जीव, तुहँ, चउरासी, लक्खहि, कालु, जिय आदि शब्द हिन्दी के ही हैं।

हेमचन्द्र ने अपने 'सिद्ध हेमचन्द्र शब्दानुशासन' के आठवें अध्याय में प्राकृत-अपभ्रंश व्याकरण पर विचार किया है। उन्होंने व्याकरण की विभिन्न विशेषताओं के प्रमाणरूप में अपभ्रंश की रचनाओं को उद्धृत किया है। ये उद्धरण पूर्ववर्ती और समकालीन कवियों की रचनाओं से लिये गए हैं। हेमचन्द्र का समय सम्वत् 1145 से सं. 1229 तक माना जाता है। अधिकांश उद्धरण आठवीं-नवीं और दसवीं शताब्दी के हैं। परमात्मप्रकाश के भी तीन दोहे नीचे दिये जा रहे हैं।¹⁷ ऐसा प्रतीत होता है कि हेमचन्द्र ने आठवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक की अपभ्रंश पर विचार किया है। अतएव निष्कर्ष निकलता है कि योगीन्दु मुनि ईसा की आठवीं शताब्दी के अन्त अथवा नवीं शती के प्रारम्भ में हुए होंगे।

डॉ. हरिवंश कोछड़ ने भी योगीन्दु का समय आठवीं-नवीं शताब्दी माना है। उन्होंने डॉ. उपाध्ये के मत का खण्डन करते हुए लिखा है कि चण्ड के प्राकृत-लक्षण में परमात्मप्रकाश का एक दोहा उद्धृत किया हुआ मिलता है जिसके आधार पर डॉ. उपाध्ये योगीन्दु का समय चण्ड से पूर्व ईसा की छठी शताब्दी मानते हैं। किन्तु सम्भव है कि वह दोहा दोनों ने किसी तीसरे स्रोत से लिया हो। इसलिए इस युक्ति से हम किसी निश्चित मत पर नहीं पहुँच सकते, भाषा के विचार से योगीन्द्र का समय आठवीं शताब्दी के लगभग प्रतीत होता है।¹⁸

ग्रंथ

योगीन्दु के नामकरण और आविर्भाव के समान, उनके ग्रंथों के सम्बन्ध में भी काफी विवाद है। श्री ए. एन. उपाध्ये ने ऐसे नौ ग्रंथों की सूची दी है जो योगीन्दु के नाम से अभिहित किये

गये हैं । वे ग्रंथ हैं — (1) परमात्मप्रकाश, (2) योगसार, (3) नौकार श्रावकाचार, (4) अध्यात्म सदोह, (5) सुभाषिततंत्र, (6) तत्त्वार्थ टीका, (7) दोहापाहुड, (8) अमृताशीति, (9) निजात्माष्टक । इनमें से नं. 4, 5 और 6 के विषय में विशेष विवरण नहीं मिलता । 'अमृताशीति' एक उपदेश-प्रधान रचना है । अन्तिम पद में योगीन्द्र शब्द आया है ।¹⁹ यह रचना योगीन्दु मुनि की है, इसका कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिलता । 'निजात्माष्टक' प्राकृत भाषा का ग्रंथ है । इसके रचयिता के सम्बन्ध में भी कुछ निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता ।

नौकार श्रावकाचार या सावयधम्म दोहा में जैन श्रावकों के आचरण सम्बन्धी नियम हैं। इसके रचयिताओं में तीन व्यक्तियों — योगीन्दु, लक्ष्मीधर और देवसेन का नाम लिया जाता है । 'हिन्दी साहित्य के वृहत् इतिहास' में योगीन्दु को 'सावयधम्म दोहा' का कर्ता बताया गया है ।²⁰ इस पुस्तक की कुछ हस्तलिखित प्रतियों के अन्त में 'योगेन्द्रकृत' लिखा भी है । सावयधम्म दोहा की तीन हस्तलिखित प्रतियाँ ऐसी हैं जिनमें कवि का नाम 'लक्ष्मीचन्द' दिया हुआ है ।²¹ किन्तु इसका सम्पादन डा. हीरालाल जैन ने किया है और उसकी भूमिका में 'देवसेन' को ग्रंथ का कर्ता सप्रमाण सिद्ध कर दिया है । अतएव इसमें अब सन्देह का स्थान नहीं रह गया है कि 'सावयधम्मदोहा' देवसेन की रचना है ।²² देवसेन दशवीं शताब्दी के जैन कवि थे । उन्होंने 'दर्शनसार', 'भावसंग्रह' आदि ग्रंथों की रचना की थी । दर्शनसार के दोहा नं. 49, 50 में आपने लिखा है कि ग्रंथ की रचना धारा नगरी के पार्श्वनाथ मन्दिर में बैठकर सम्वत् 990 को माघ सुदी दशमी को की । इससे स्पष्ट है कि वे दशवीं शताब्दी में हुए थे ।

'दोहापाहुड' के सम्बन्ध में दो रचयिताओं का नाम आता है - मुनि रामसिंह और योगीन्दु मुनि । डॉ. हीरालाल जैन ने इस ग्रंथ का सम्पादन दो हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर किया है ।²³ उन्हें एक प्रति दिल्ली और दूसरी कोल्हापुर से प्राप्त हुई थी । दिल्लीवाली प्रति के अन्त में "श्री मुनिरामसिंह विरचिता पाहुड दोहा समाप्त" लिखा है और कोल्हापुर की प्रति के अन्त में "इति श्री - योगेन्द्रदेव विरचित दोहापाहुड नाम ग्रंथ समाप्त" लिखा है । 'दोहापाहुड' की एक हस्तलिखित प्रति मुझे जयपुर के 'आमेर शास्त्र भंडार' गुटका नं. 54 से प्राप्त हुई है । इस प्रति के अन्त में लिखा है कि "इति द्वितीय प्रसिद्ध नाम जोइन्दु विरचित दोहापाहुडय समाप्तानि ।" इस कारण यह निर्णय कर सकना कि इसका कर्ता कौन है ? कुछ कठिन हो जाता है ।

अब दो ग्रंथ परमात्मप्रकाश और योगसार — ही ऐसे रह जाते हैं जिनको निर्विवाद रूप से योगीन्दु मुनि की रचना कहा जा सकता है । परमात्मप्रकाश में दो महाधिकार हैं । प्रथम महाधिकार में 123 तथा दूसरे में 214 दोहे हैं । इस ग्रंथ की रचना योगीन्दु मुनि ने अपने शिष्य भट्ट प्रभाकर के आत्मलाभ के लिए की थी । प्रारम्भ में भट्ट प्रभाकर पंचपरमेष्ठी तथा योगीन्दु मुनि की वन्दना करके निर्मल भाव से कहते हैं कि मुझे संसार में रहते हुए अनन्तकाल व्यतीत हो गया, फिर भी सुख नहीं मिला, दुःख ही दुःख मिला । अतएव हे गुरु ! चतुर्गति (देवगति, मनुष्यगति, नरकगति, तिर्यकगति) के दुःखों का निवारण करनेवाले परमात्मा का वर्णन कीजिए —

भावि पणविवि पंचगुरु सिरि-जोइन्दु-जिणाउ ।

भट्टपहायरि विण्णविउ विमलु करेविणु भाउ ॥8 ॥

गउ संसारि वसन्ताहं सामिय कालु अणन्तु ।

पर मईं किपि ण पत्तु सुहु दुक्खु जि पत्तु महन्तु ॥9 ॥

चऊगइ-दुक्खहँ तत्ताहँ जो परमप्यउ कोइ ।

चउगइ-दुक्ख-विणासयरुकहहु पसाएँ सो वि ॥10 ॥

— (परमात्मप्रकाश, प्र. महाधिकार)

भट्ट प्रभाकर की इस प्रार्थना को सुनकर योगीन्दु मुनि 'परमतत्व' की व्याख्या करते हैं। वा आत्मा के भेद, बहिरात्मा, परमात्मा, अन्तरात्मा का स्वरूप मोक्ष-प्राप्ति के उपाय, निश्चयन, सम्यक्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि का वर्णन करते हैं। स्थान-स्थान पर भट्ट प्रभाकर शंका उपस्थित करते हैं। तब योगीन्दु उस विषय को अधिक विस्तार से स्पष्ट करते हैं। इसीलिए अन्त में उन्होंने कहा है कि पण्डितजन इसमें पुनरुक्ति दोष पर ध्यान न दें। क्योंकि मैंने भट्ट प्रभाकर को समझाने के लिए परमात्म तत्व का कथन बार-बार किया है -

इत्थु ण लेवउ पण्डियहिं, गुण-दोसु वि पुणरुत्तु ।

भट्ट-पभायर-कारणइँ मइँ पुणु-पुणु वि पउत्तु ॥2॥

- (परमात्मप्रकाश, द्वि. महाधिकार)

'योगसार' आपकी दूसरी रचना है। इसमें 108 दोहा छन्द हैं। इसका विषय भी वही है जो 'परमात्मप्रकाश' का है। ग्रंथ के अन्त में कवि ने स्वयं कहा है कि संसार के दुःखों से भयभीत योगीन्दु देव ने आत्मसम्बोधन के लिए एकाग्र मन से इन दोहों की रचना की -

संसारह भय-भीयएण जोगिचन्द-मुणिएण ।

अप्पा-संबोहण कया दोहा इक्क-मणेण ॥108॥

दोनों ग्रंथ श्री ए. एन. उपाध्ये द्वारा सम्पादित होकर 'रायचन्द्र जैन शास्त्रमाला' से प्रकाशित हो चुके हैं।

समीक्षा

योगीन्दु मुनि उच्च-कोटि के साधक हैं। आपने जैन एवं जैनेतर ग्रंथों का विशद अध्ययन किया था। आप संकीर्ण विचारों से पूर्णतया मुक्त थे। आपने अनुभूति को ही अभिव्यक्ति का आधार बनाया और केवल जैनधर्म के ग्रंथों का ही पिष्टपेषण और व्याख्या आदि न करके, जिस चरम सत्य का अनुभव किया, उसे निर्भीक-निर्द्वन्द्व वाणी से अभिव्यक्त कर दिया। एतदर्थ अन्य धर्मों की शब्दावली ग्रहण करने में आप हिचके नहीं तथा जैन मत की कुछ मान्यताओं से अलग जाने से डरे नहीं। आपने आत्मा के तीन स्वरूपों को आचार्य कुन्दकुन्द के समान ही स्वीकार किया और कहा कि द्रव्यदृष्टि से आत्मा एक होने पर भी पर्यायदृष्टि से तीन प्रकार का हो जाता है - बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। शरीर को ही आत्मा समझनेवाले मूढ़ या बहिरात्मा होते हैं। ऐसे मिथ्यादृष्टि पुरुषों को यह विश्वास रहता है कि मैं गौरा हूँ या श्यामवर्ण का हूँ। मैं स्थूल शरीर का हूँ या मेरा शरीर दुर्बल है। वे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि विभिन्न वर्णों की यथार्थता में भी निष्ठा रखते हैं।²⁴ किन्तु जो कर्म-कलक से विमुक्त हो जाता है, सत्यासत्य विवेकी हो जाता है, आत्मा के वास्तविक स्वरूप को जान लेता है, उसे शरीर और आत्मा का अन्तर स्पष्ट हो जाता है। आत्मा की यही अवस्था 'परमात्मा' कहलाती है। यह आत्मा ही निरंजन देव है, शिव, ब्रह्मा, विष्णु है, एक ही तत्व के ये विभिन्न नाम हैं।

योगीन्दु मुनि ने 'परमात्मा' को ही निरंजनदेव कहा है। और निरंजन कौन है? इसका वर्णन करते हुए वे कहते हैं कि निरंजन वह है, जो वर्ण, गंध, रस, शब्द, स्पर्श से रहित है, जन्म-मरण से परे है। निरंजन वह है, जिसमें वर्ण, गंध, रस, मद, माया, मान का अभाव है। निरंजन वह है, जो क्रोध, मोह, हर्ष-विषाद आदि भावों से अलिप्त है।²⁵

योगीन्दु मुनि का यह निरंजन 'निरंजनमत' की याद दिला देता है। 'निरंजनमत' आठवीं-नवीं शताब्दी में बिहार, बंगाल आदि के कुछ जिलों में काफी प्रभावशाली रूप में फैला हुआ था।

यह मत 'धर्म सम्प्रदाय' के नाम से भी पुकारा जाता था । धर्माष्टक नामक एक निरंजन स्तोत्र में 'निरंजन' की ठीक इसी प्रकार के शब्दों में स्तुति की गई है -

ॐ न स्थानं न मानं च चरणाविन्दं रेखं न च धातुवर्णं ।
दृष्टा न दृष्टिः श्रुता न श्रुतिस्तस्ये नमस्तेतु निरंजनाथ ॥
ॐ श्वेतं न पीतं न रक्तं न रेतं न हेमस्वरूपं न च वर्णकर्णं ।
न चन्द्रार्कवह्नि उदयं न अस्तं तस्मै नमस्तेऽस्तु निरंजनाथ ॥
ॐ न वृक्षं न मूलं न बीजं न चाकुरं शाखा न पत्रं न च स्कंधपल्लवं ।
न पुष्पं न गन्धं न फूलं न छाया तस्मै नमस्तेऽस्तु निरंजनाथ ॥
ॐ अधा न ऊर्ध्वं शिवो न शक्ती नारी न पुरुषो न च लिंगमूर्तिः ।
हस्तं न पादं न रूपं न छाया तस्मै नमस्तेऽस्तु निरंजनाथ ॥

- (धर्म पूजा विधान, पृ. 77-78)

यह निरंजनदेव ही परमात्मा है । इसे जिन, विष्णु, बुद्ध और शिव आदि विभिन्न नामों से पुकारा जाता है ।²⁶ इसको प्राप्त करने के लिए बाह्याचार की आवश्यकता नहीं । जप, तप, ध्यान, धारणा, तीर्थाटन आदि व्यर्थ है । इसको तो निर्मलचित्त-व्यक्ति अपने में ही प्राप्त कर लेता है । मानसरोवर में हंस के समान निर्मल मन में ब्रह्म का वास होता है । उसे देवालय, शिल्प अथवा चित्र में खोजना व्यर्थ है ।²⁷ जब मन परमेश्वर से मिल जाता है और परमेश्वर मन से तब पूजा-विधान की आवश्यकता भी नहीं रह जाती, क्योंकि दोनों एकाकार हो जाते हैं, समरस हो जाते हैं -

मणु मिलियउ परमेसरहँ परमेसरु वि मणस्स ।

बीहि वि समरसि ह्वाहँ पूज्ज चडावऊँ कस्स ॥123॥

इस सामरस्य भाव के आने पर हर प्रकार का वैषम्य समाप्त हो जाता है, द्वैत भाव का विनाश हो जाता है । वस्तुतः पिण्ड में मन का, जीवात्मा में तिरोभूत हो जाना या एकमेक होकर मिल जाना ही यह सामरस्य है । इस अवस्था को प्राप्त होने पर साधक को किसी प्रकार के बाह्य आचरण या साधना की आवश्यकता ही नहीं रह जाती है ।

इस प्रकार श्री योगीन्दु मुनि आठवीं-नवीं शताब्दी के अन्य साधकों के स्वर में स्वर मिलाकर ब्रह्म के स्वरूप, उसकी प्राप्ति के उपाय आदि का मोहक विवरण प्रस्तुत करते हैं । आपका महत्त्व इस बात में भी है कि आपने प्राकृत भाषा को न अपनाकर, जनसामान्य में व्यवहृत भाषा को स्वीकार किया । इससे आपकी उदार मनोवृत्ति का परिचय प्राप्त हो जाता है । श्री ए. एन. उपाध्ये ने ठीक ही लिखा है कि उच्चकोटि की रचनाओं में प्रयुक्त की जानेवाली संस्कृत तथा प्राकृत भाषा को छोड़कर योगीन्दु का उस समय की प्रचलित भाषा अपभ्रंश को अपनाना महत्त्व से खाली नहीं है । इस दृष्टि से वे महाराष्ट्र के संत ज्ञानदेव, नामदेव, तुकाराम, एकनाथ और नामदेव तथा कर्नाटक के बसवन्न आदि साधकों की कोटि में आते हैं, क्योंकि वे भी इसी प्रकार मराठी और कन्नड़ में अपनी अनुभूतियों को बड़े गर्व से व्यक्त करते हैं ।²⁸

1. भाविं पणविवि पंच-गुरु सिरि-जोइन्दु-जिणाउ ।

भट्टपहायरि विण्णविउ विमलु करेविणु भाउ ॥8॥

2. देखिए - परमात्मप्रकाश, पृ. 1, 5, 346 आदि ।
3. वही, पृ. 57 ।
4. परमात्मप्रकाश और योगसार, पृ. 394 ।
5. देखिए, परमात्मप्रकाश की भूमिका, पृ. 57 ।
6. मध्यकालीन धर्म साधना, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद प्र. संस्करण, 1952, पृ. 44 ।
7. देखिए, राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज (तृतीय भाग) की प्रस्तावना, पृ.3
8. हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास (भाग-1), पृ. 346 ।
9. हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, कामताप्रसाद जैन, प्रकाशक-भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, फरवरी 1947, पृ. 54 ।
10. परमात्मप्रकाश की भूमिका, श्री ए. एन. उपाध्ये, पृ. 67 ।
11. मध्यकालीन धर्मसाधना, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ. 44 ।
12. दोहाकोश, महापण्डित राहुल सांकृत्यायन, पृ. 4 ।
13. हिन्दी काव्यधारा, महापण्डित राहुल सांकृत्यायन, पृ. 57 से 59 तक ।
14. दोहाकोश, महापण्डित राहुल सांकृत्यायन, पृ. 5 ।
15. हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, नामवर सिंह, पृ. 6 ।
16. पुरानी हिन्दी, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, प्र. संस्करण 2005, पृ. 130 ।
17. (1) परमात्मप्रकाश -

संता विसय जु परिहरइ बलि किज्जउँ हउँ तासु ।
 सो दइवेण जि मुण्डियउ सीसु खडिल्लउ जासु ॥139॥
 हेम प्राकृत व्याकरण -
 संता भोग जु परिहरइ तसु कन्तहो बलि कीसु ।
 तसु दइवेण वि मुण्डियउं जसु खल्लिउउं सीसु ॥

X

X

X

(2) परमात्मप्रकाश -

पंचहँ णायकु वसिकरहु जेण होति वसि अण्ण ।
 मूल विणट्टइ तरूवरहँ अवसइँ सुक्कहिँ पण्ण ॥140॥
 हेम प्रा. व्याकरण -
 जिब्भिन्दु नायगु वसि करहु जसु अधिन्नइ अन्नहँ ।
 मूलि विणट्टइ तुविणिहे अवसेँ सुक्कइँ पण्णइँ ॥

X

X

X

(3) परमात्मप्रकाश -

बलि किउ माणुस-जम्मडा देक्खन्तहँ पर सार ।
 जइ उट्टुब्भइ तो कुहइ अह उज्झइतो छार ॥147॥

हेम प्रा. व्याकरण -

आयहो दट्ट कलेवरहो ज वाहिउ त सार ।

जइ उट्टभइ तो कुहइ अह डज्जइ तो छार ॥

18. अपभ्रंश साहित्य, डॉ. हरिवंश कोछड़, भारतीय साहित्य मन्दिर, दिल्ली, पृ. 268 ।

19. देखिए - परमात्मप्रकाश की भूमिका, पृ. 112 ।

20. हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास (प्रथम भाग), सं. - डॉ. राजबली पाडेय, पृ. 346 ।

21. देखिए - परमात्मप्रकाश की भूमिका, पृ. 110 ।

22. देखिए - सावयधम्मदोहा की भूमिका, सं. - डॉ. हीरालाल जैन, प्र. - कारंजा जैन सिरीज, कारंजा 1932 ।

23. पाहडदोहा, मुनि रामसिंह, सं. - डॉ. हीरालाल जैन, प्र. - कारंजा जैन पब्लिकेशन सोसाइटी, कारंजा (बरार) 1933 ।

24. हउँ गोरउ हउँ सामलउ हउँ जि विभिण्णउ वण्णु ।

हउँ तणु-अंगउँ थूलु हउँ एहउँ मूठउ मण्णु ॥80॥

हउँ वर बंभणु वइसु हउँ, हउँ खत्तिउ हउँ सेसु ।

पुरिसु णउँ सउ इत्थि हउँ मण्णइ मूढु विसेसु ॥81॥

— परमा. प्र. प्रथम महा., पृ. 86 ।

25. जासु ण वण्णु ण गन्धु रसु जासु ण सहु ण फासु ।

जासु ण जम्मणु मरणु णवि णाउ णिरंजणु तासु ॥19॥

जासु ण कोहु ण मोहु मउ जासु ण माय ण माणु ।

जासु ण ठाणु ण ज्ञाणु जिय सो जि णिरंजणु जाणु ॥20॥

अत्थि ण पुण्णु ण पाउ जसु अत्थि ण हरिसु विसाउ ।

अत्थि ण एक्कु वि दोसु जसु सो जि णिरंजणु भाउ ॥21॥

— परमा. प्र. महा., पृ. 27-28 ।

26. णिम्मलु णिवक्कलु सुद्ध जिणु विण्ह बुद्ध सिव सन्तु ।

सो परमप्पा जिण-भण्डिउ एहउ जाणि णिभन्तु ॥9॥

— योगसार, पृ. 373 ।

27. णिय-मणि णिम्मलि णाणियहँ णिवसइ देउ अणाइ ।

हँसा सरवरि लीणु जिम महु एहउ पडिहाइ ॥122॥

देउ ण देवले णवि सिलए णवि लिप्पइ णवि चित्ति ।

अखउ णिरंजणु णाणमउ सिउ सठिउ सम चित्ति ॥123॥

— परमा. प्र. महा. पृ. 123-124 ।

28. परमात्मप्रकाश की भूमिका, पृ. 27 ।

वरिसइ घणोह अच्छिन्नधारु

कालम्मि कम्मि महिजणियसत्तु, सिंहिवल्लह वासारत्तु पत्तु ।
 पाउससिरि-संतरयंबरीय, हेट्टामुह-लबिपओहरीय ।
 घणपडलच्छण्णतारयविहाइ, उल्लसियकासु जरथेरि नाई ।
 वरिसइ घणोह अच्छिन्नधारु, तरुवरदलघट्टणतारतारु ।
 गिरिकडणि सिलायडे मंदमंदु, हलकिट्टुत्तमालेसु सडु ।
 आलावणिवज्जहो अणुहरंतु, सरि-सर-निवाण-दरि-दह भरंतु ।
 पडणुच्छलंतजलु धरणि वहइ, फलिहमयलिगजडिले व सहइ ।
 निसिदिवससत्त धाराहरु वरिसइ पूरियधरणियलु ।
 संचारु न लब्भइ सलिले हुउ आदण्णउ जगु सयलु ।

X X X X X

फुट्टतलायपालिवहनिग्गय, नइउण्णाहलग्गजलयर गय ।
 थिप्पिर-जुण्ण-तण्ण-कुडिलीणई, कंदिरडिभई तवणविहीणई ।
 सलसलति भुक्खई सविडबई, निव्ववसायइ रोड-कुडबई ।
 नीडनिवासिएहि अच्छिज्जइ, वार वार पक्खिहि मुच्छिज्जइ ।

— जम्बूसामिचरिउ 9.9, 10

— किसी समय पृथ्वी में अनेक सत्त्वों को उत्पन्न करनेवाला शिखि-वल्लभ वर्षाश्रित्तु प्राप्त हुआ । अंबर में रज शान्त हो गया, मेघ अधोमुख होकर आकाश में लटक गये । मेघपटल से तारकगण आच्छादित हो गये और काश (नामक घास) खूब फूल उठे । उत्तम वृक्षों के पत्रों से संघट्टन करता हुआ वारिद (मेघ) समूह गिरिमेखला और शिलातटों पर मंद-मंद एवं हल चलाई हुई खेत-मालाओं में खूब घना, वीणा के वादन के स्वर का अनुसरण करता हुआ, नदी, तड़ाग, गढ़ों, दरों व दहों को भरता हुआ अविच्छिन्न धारा से बहने लगा । वर्षा गिरने से उछलते हुए जल को धारण करती हुई पृथ्वी ऐसी शोभायमान हो रही थी मानो स्फटिकमय लिंगों से जड़ दी गई हो । सात रात-दिनों तक मेघ निरन्तर बरसता रहा, उसने धरातल को जल से पूर दिया । पानी के कारण संचरण (मार्ग) मिलना भी कठिन हो गया, सारा जग व्याकुल हो गया ।

X X X X X X

तालाबों की पाल फूट गई, उससे जल का प्रवाह बह निकला । नदी की बाढ़ में पड़कर जलचर बह गये । खाद्य-पदार्थों के न मिलने से क्रन्दन करते हुए बच्चे गलती हुई जीर्ण तृणनिर्मित कुटियों में लीन हो गये । कुटुम्बीजन भूख से व्याकुल होकर सलबलाने लगे और व्यवसायहीनता के कारण हैरान हो गये । पक्षी अपने नीडों में ही निवास करते रह गये और मूर्च्छित होने लगे ।

अनु., डॉ. विमलप्रकाश जैन

सन्देश-रासक काव्य-विधा और विश्लेषण

• डॉ. त्रिलोकीनाथ 'प्रेमी'

'सन्देश-रासक' 12वीं शताब्दी की मुसलमान कवि अब्दुल रहमान कृत धर्मोत्तर-साहित्य की अपभ्रंश-काव्य कृति है जिसमें किसी बृहत् कथा-सूत्र को न सँजोकर लोक-जीवन के अंतस् में प्रवहमान नारी-हृदय की विरह-मार्मिकता को चित्रित किया गया है । भारतीय-वाङ्मय के प्रणय-काव्यों में विरह-निरूपण काव्य की विशिष्ट विभूति रहा है । कारण, इसके सहारे जहाँ इन काव्यों में पूर्णता और समग्रता का समावेश होता है, वहाँ कवि-कल्पना भी इसकी गहराई में पैठकर अद्भुत भाव-रत्न खोज लाती है । संयोग की सुखद-स्नेह-संयुक्त घड़ियों के उपरांत वियोग की क्षणिक किन्तु असह्य स्थिति में अतीत-स्मृतियों और पुनर्संयोग की आशा¹ ही विरह-जर्जर-हृदय को बाँधे रहती है — 'आशाबन्धः कुसुमसदृशं नायशो ह्यंगनानां सद्यः पाति प्रणयि हृदयं विप्रयोगे रुणद्धि' — मेघदूत, 10, (पूर्व मेघ) । किन्तु, मिलन के पल ज्यों-ज्यों समीप आने लगते हैं, संयोग की उत्कट लालसा तथा प्रकृति द्वारा भावों के उद्दीपन से प्रणयी-पात्रों की आतुरता अतीव बलवती हो जाती है । इस अवस्था में ही विरही मन अपने किसी अंतरंग मानव या मानवेतर जीव के निकट जाकर मर्म-वेदना को, प्रिय से निवेदन करने के लिए व्यक्त करने लगता है अथवा जड़-प्रकृति पर ही चेतन का आरोप कर उससे निज पीड़ा-व्यथा कहने लगता है । काव्य में विरह-वर्णन की ये दोनों ही शैलियाँ उपलब्ध होती हैं । लोक-प्रचलित ग्राम-गीतों में भी भावाभिव्यंजना का यह सौन्दर्य उनकी अनूठी निधि है । प्राचीन-काल में जब पुरुष अर्थार्जन-हेतु परदेश जाते थे और निश्चित अवधि के बाद नहीं लौट पाते थे, तब ग्राम-वधुएँ उन नगरों को जानेवाले राहगीरों के हाथ प्रियतम के लिए सन्देश-प्रेषण करती थीं । प्रस्तुत रासक में इसका स्पष्ट संकेत है² जो इसके लोक-संस्पर्श का परिचायक है ।

अपभ्रंश के पूर्ववर्ती और परवर्ती साहित्य में इस प्रकार के विरह-काव्यों की परम्परा, कहीं स्फुट और कहीं प्रबन्ध-रूप में उपलब्ध होती है । यथा, उदयन-कृत 'मयूर-सन्देश'; वासुदेव-कृत 'भृंग-सन्देश'; वामनभट्ट वाण-कृत 'हंस-दूत'; विष्णुगात-रचित 'कोक-सन्देश' तथा कालिदास-कृत 'मेघदूत' आदि । किन्तु, इन सभी में पुरुष-विरह की प्रधानता है । पर, प्राकृत में लिखे धोयीक के 'पवन-दूत' में सन्देश-प्रेषण नायिका ही करती है और 'सन्देश-रासक' में भी नारी-विरह ही मूल प्रतिपाद्य है । परवर्ती-साहित्य में भी नारी की ही प्रमुखता रही है ।

वस्तुतः, विरह-चित्रण में सन्देश-प्रेषण काव्य की चिर-पुरातन रूढ़ि रहा है । परन्तु, अचेतन-वस्तु को प्रेम-प्रसंग में दौत्य-कर्म के लिए भेजकर तथा प्रणय में गाढ़ उत्कंठातिरेक की सद्य अभिव्यक्ति करके कालिदास ने अपने 'मेघदूत' में जिस मौलिक प्रतिभा एवं कला-कौशल का परिचय दिया है, वह विश्व-साहित्य में बेजोड़ है । इसमें धनपति कुबेर के अभिशाप से निर्वासित विरही यक्ष अपनी प्रेयसी के पास मनोव्यथा का विरह-सन्देश लेकर मेघ को भेजता है; जबकि 'सन्देश-रासक' में विरहिणी एक पथिक से अपनी विरह-जन्य स्थिति का निरूपण करती है । यहाँ सन्देश-वाहक में अचेतन तथा चेतन-रूप की भिन्नता का कारण कवि के भाव-सवेदन की अनुभूति का स्तर है । फिर, कालिदास को प्रकृति के मनोहर रूप-चित्रों की चित्रपटी भी तैयार करनी थी, जिसके लिए उन्हें मेघ से ही दूतकार्य लेना पड़ा । फलतः, उनकी स्वच्छंद कल्पना को प्रकृति के विस्तृत प्रांगण में उन्मुक्त पंख फैलाने को प्रभूत स्थान प्राप्त हो सका । वस्तुतः बाह्य-प्रकृति का मनहर वातावरण ही सम्पूर्ण मेघदूत का आधार-बिन्दु है । किन्तु, रासककार के समक्ष इस प्रकार का कोई धेय नहीं रहा है। वह तो लोकानुभूत सत्य के आधार पर ही अपनी भाव-गरिमा को काव्य में गूँथ देना चाहता है। तभी तो दौत्य-कर्म-हेतु चेतन पथिक को लिया है जो स्वयं भाव की तरलता और गंभीरता-गहराई को समझता है । इसी से यहाँ न कहीं कल्पना की दुरूहता है और न आतिशय्य । अथ च भावों का तलस्पर्शी सौजन्य और सहज ग्राह्यता ही आद्यन्त इसका सौन्दर्य है। अथ से इति तक भावात्मक परिवेश ही इसकी विभूति है ।

सन्देश-काव्य की सफलता का आधार सन्देश-वाहक द्वारा पहुँचने पर विरह के मार्मिक निरूपण में है । यहीं कविता-प्रस्फुटित होकर सद्दय को आत्म-विभोर करती है। 'मेघदूत' में मेघ अलकापुरी पहुँचकर अभिशापित यक्ष की विरह-स्थिति का बड़ा ही मर्मस्पर्शी चित्र प्रस्तुत करता है । 'बीसलदेव-रास' में सन्देश-वाहक पण्डित उड़ीसा पहुँचकर राजा से विरह-विधुरा रानी राजमती की पीड़ा का निरूपण करता है । हिन्दी के कृष्ण-भक्ति-काव्य में ब्रज से लौटकर उद्भव श्रीकृष्ण को गोपांगनाओं की स्थिति का परिचय कराते हैं । 'पृथ्वीराज-रासौ' में शुक द्वारा पद्मावती के विरह-सन्देश को प्राप्त कर पृथ्वीराज विह्वल हो उठता है । इस दृष्टि से 'सन्देश-रासक' को सफल तथा पूर्ण 'सन्देश-काव्य' नहीं कहा जा सकता । हाँ, इसके नाम से अवश्य व्यवधान प्रस्तुत होता है । इस सन्दर्भ में इतना ही निवेदन है कि इसका 'सदेश' शब्द रासककार ने निश्चय ही अपने पूर्ववर्ती प्रणय-काव्यों से ग्रहण किया है, ताकि पाठक को चमत्कृत किया जा सके । यहाँ ज्योंही विरहिणी पथिक को सन्देश देकर विदा करती है, उसे अपना पति दक्षिण-दिशा से आता हुआ दीख पड़ता है। इस नाटकीय अंत से सन्देश-प्रेषण की द्रवणशीलता का मूल्य एकदम मिट जाता है । सद्दय पाठक विरह के विमुग्ध वातावरण में निमग्न रहकर अकस्मात् मूल भाव-सूत्र के विच्छिन्न हो जाने से चकित हो जाता है और इससे रसानुभूति में किञ्चित् बाधा भी उत्पन्न होती है । अस्तु, इसे 'मेघदूत' के ढंग का 'सन्देश-काव्य' या 'दूत-काव्य' नहीं कहा जा सकता । गीति-काव्य की भावात्मकता, उन्मुक्त प्रतिभा तथा कल्पना-चातुरी का लालित्य अवश्य रासककार की काव्य-निधि है ।

जैन-मुनियों द्वारा प्रणीत अपभ्रंश का विपुल रास-साहित्य काव्य-रूप के मूल उत्स की दृष्टि से विशुद्ध लोक-नृत्य में गेयाश के मिलने पर गेय रूपक की श्रेणी के अनंतर कालांतर में पाठ्य होता गया । किन्तु, 12वीं सदी में ऐतिहासिक इतिवृत्तों तथा लोक-गीतात्मक विषयों को लेकर भी रास-कृतियों की रचना हुई । शैली की दृष्टि से इसके दो रूप हो गये — एक, रास या रासौ-शैली और दूसरी रासक-शैली³ । एक, शास्त्रीय-पद्य का अनुकरण करती हुई भी, अपने परवर्ती विकास में विविध काव्य-पद्धतियों का समाहार कर सतत विकासशील रहकर, स्वतंत्र काव्य-रूप को प्रशस्त कर सकी है; जबकि दूसरी लोकोन्मुख ही अपेक्षाकृत अधिक रही है । लोक-गीतों की मधुरता तथा भाव-व्यंजना यहाँ सहृदय को संकृत करती रहती है । अपने स्वतंत्र काव्य-रूप के निर्धारण में यह किसी प्रभाव की ऋणी नहीं । इसमें कथा का क्षीण आधार लोक-जीवन की माधुरी का ही परिणाम है । लगता है जैसे रासककार अपनी रासक-परम्परा को रास या रासो-परम्परा से भिन्न बनाये रखने के लिए सतत जागरूक है । उसके प्रतिपाद्य का चयन इस तथ्य का परिचायक है । फिर भी, इस नव्य काव्य-विधा पर प्रकृत के 'अमरुक-शतक', 'गाहा-सप्तसई', 'आर्या-सप्तसई' तथा हेमचन्द्राचार्य के व्याकरण में संग्रहीत कतिपय मुक्तकों की व्यंजना-पद्धति का लोकस्पर्शी प्रभाव अवश्य अवलोकनीय है । किन्तु, इस सदी के उपरांत प्रस्तुत काव्य-परम्परा का विकास अवरुद्ध हुआ ही मिलता है । 'सन्देश-रासक' के बाद ऐसी अन्य कृति अद्यतन उपलब्ध नहीं हो सकी है । बहुत संभव है, लोक-वाणी का प्रतिनिधित्व करती हुई यह मौखिक रूप में जीवित रही हो । साहित्य में काव्य-रूप की परम्परा अनुकूल परिस्थितियों में पुनर्विकसित होती है, पूर्णतः उसका विनाश कभी नहीं होता ।

विन्यास की दृष्टि से भी रासक-काव्य-रूप, रास या रासो-काव्य से प्रायः भिन्न है । काव्य-प्रणयन में प्रारम्भ तथा अंत की कतिपय काव्यगत रूढ़ियाँ दोनों पर पूर्ववर्ती काव्यों के प्रभाव की ही द्योतक हैं । प्रारम्भ में ईश-वन्दना अथवा आशीर्वादात्मक शब्दों का प्रयोग और अन्त में फल-प्राप्ति का संकेत भारतीय काव्य-प्रणयन की ऐसी ही पुरातन रूढ़ियाँ हैं —

प्रारम्भ — रयणायर गिरितरुचराईं गयणगणमि रिक्खाई ।

जेणऽज्ज सयल सिरिय सो बुहयण वो सिव देउ ॥1 ॥

अन्त — जेम अचित्तिउ कज्जु तस सिद्ध खणद्धि महंतु ।

तेम पठंत सुणंतयह जयउ अणाइ अणतु ॥223 ॥

— सदेश-रासक, संपा. आचार्य द्विवेदी एवं त्रिपाठी

x x x x

प्रारम्भ — रिसह जिणेसर पय पणमेवी, सरसति सामिणि मनि समरेवी,

नमवि निरंतर गुरु चलणा ॥1 ॥

अन्त — जो पढइ ए वसह वदीत, सो नरो नितु नव निहि लहइए ॥203 ॥

— भरतेश्वर बाहुबलिरास⁴

x x x x

प्रारम्भ — वीर जिणेसर चरण कमल कमला कयवासो,

पणभवि पभणिसु सामि साल गोयम गुरु रासो ॥2 ॥

अन्त — एह रास जे भणे भणावे, वर सयगल लच्छी घर आवे,

मन वद्धित आशा फले ए ॥62 ॥

— गौतम स्वामीरास⁵

सदेश-रासक का कवि तो इन रूढ़ियों से भी आगे बढ़कर सबके कल्याण की मंगल-कामना करता हुआ, अपनी मौलिकता का परिचय पाठकों को संबोधन करके देता है — 'हे नागरजनों! उस कर्तार को नमस्कार करो जो मनुष्यों, देवताओं, विद्याधरों और आकाश-मार्ग पर चलनेवाले सूर्य-चंद्र-बिम्बों तथा अन्यो द्वारा नमस्कृत होता है' । पुनः अपना आत्म-परिचय देते समय भी वह न अपनी हीनता का प्रदर्शन करता है और न स्वयं को किसी का अनुसरणकर्ता ही कहता है —

तह तणओ कुलकमलो पाइयकव्वेसु गीयविसयेसु ।
अहहमाणपसिद्धो सनेहरासय रइय ॥७

वर्ण्य-विभाजन में भी रासककार की तीन 'प्रक्रमों' की योजना अपनी निजी है और लघुकाय वर्ण्य को पूर्णता के उत्कर्ष तक ले जाने में उसने कला-चातुरी का परिचय दिया है ।

वीर-गीतों (बैलेड्स) की भौति लोक-प्रणय-गीतों को भी दो कोटियों में विभक्त किया जा सकता है — मुक्तक लोक-प्रणय-गीत, जो कलेवर में लघुकाय किन्तु रसानुभूति में पूर्णतः सक्षम होते हैं; किसी कथा का शृंखलाबद्ध तारतम्य इनमें नहीं होता और दूसरे, प्रबन्धात्मक लोक-प्रणय-गीत। यहाँ प्रबंधात्मकता के दो प्रधान पहलू कहे जा सकते हैं — एक, जिसमें कथा-भाग प्रमुख रहता है और द्वितीय, जिसमें कथा नाममात्र को रहती है किन्तु शृंगार-रस के किसी एक भाव की तीव्रता आद्यत बनी रहती है । एक में जहाँ वर्णनात्मकता रहती है, वहाँ द्वितीय में भाव-गरिमा का आकर्षण कृति को प्राणत्व प्रदान करता है । प्रस्तुत रासक को हम इसी द्वितीय कोटि में रखते हैं । प्रथम के अन्तर्गत राजस्थान के सुप्रसिद्ध लोक-गीत 'ढोला-मारू-रा-दूहा' को रखा जा सकता है तथा नरपति-नाल्ह के 'बीसलदेव-रास' को इन दोनों के मध्य की कड़ी कहा जा सकता है । उसमें वर्णनात्मकता के साथ विरह-भाव की गहराई भी द्रष्टव्य है ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि रासककार का यह वर्ण्य-विभाजन कथा-तत्त्व के अभाव में भी मौलिक एवं उसके विशिष्ट अभिप्राय का प्रतिपादक है । निश्चय ही वह अपने वर्ण्य को प्रबन्ध-रूप प्रदान करने के लिए सजग है । तभी तो उसने 'मेघदूत' के समान पूर्व एवं उत्तर-मेघ की कल्पना न करके कुल तीन प्रक्रमों का संधान किया है जो उसके प्रतिपाद्य की दृष्टि से नितांत पूर्ण हैं । साथ ही, पूर्ववर्ती प्रबन्ध-पटुता को भी वह नहीं भुला पाया है । यही कारण है कि 'मेघदूत' जहाँ खण्ड-काव्य की कोटि में ही आता है वहाँ 'सन्देश-रासक' एक सफल लोक-गीतात्मक प्रबन्ध-काव्य ही है । यों उसके छन्दों से मुक्तक-काव्य का भी आनन्द लिया जा सकता है, किन्तु उसकी गरिमा का सौजन्य इस प्रबन्धत्व में ही है । उसमें वर्ण्य विरह-भाव के विकास की एक शृंखला है और यही प्रबन्धत्व की सफल-सबल कसौटी है । अतः इसे 'मुक्तक' या 'क्षीणधर्मा-प्रबन्ध' कहना औचित्यपूर्ण नहीं ।

प्रबन्ध-प्रणयन की यह परम्परा रासककार को अपने पूर्ववर्ती साहित्य से विरासत के रूप में प्राप्त हुई । किन्तु, युग-चेता कवि अपनी मौलिक प्रतिभा तथा भव्यसृष्टि का सहज परिचय देता हुआ, पूर्व परम्परा को गतिशील बनाता है । यहाँ न तो संस्कृत-प्रबन्धों की भौति आठ या अधिक सर्ग हैं और न अपभ्रंश-सदृश कड़वक तथा सधियों की योजना । बल्कि, 223 छन्द का यह रासक-काव्य तीन प्रक्रमों में विभक्त है । अस्तु, रास या रासौ काव्य-विधा के विकास में इसके मूल्यवान महत्त्व और योगदान को भुलाया नहीं जा सकता ।

प्रथम प्रक्रम में रासककार अपनी पूर्ववर्ती प्रबंध-प्रणयन की परम्परा के निर्वाह हेतु सभी कवि एवं विदग्धों के प्रति श्रद्धा प्रकट करता हुआ, अपनी कविता के संबंध में गहन आस्था व्यक्त करता

है — 'यदि सूर्य के उदित होने पर नलिनी विमल सरोवर में खिलती है, तो क्या बाड़ी में लगी हुई तूँबी या लौकी न फूले ? ×××× जिसके पास जितनी काव्य-शक्ति है, उसको उसी के अनुसार निःसंकोच होकर कविता करनी चाहिए । चतुर्मुख ने कविता की तो क्या अन्य कवि कविता न करें ?' इसी प्रकार की भाव-व्यंजना 'उपदेश रसायन-रास' में भी दर्शनीय है — यदि फूल मूल्य देकर प्राप्त हो सकते हों तो क्या कुएँ के समीप बाटिका नहीं लगाई जा सकती —

जइ किर फुल्लइ लब्भइ मुल्लिण

तो बाडिय न करहि सह कूविण ॥28॥¹⁰

किन्तु, 'पृथ्वीराज-रासो'¹¹ में इस प्रकार की अनेक उक्तियाँ अवलोकनीय हैं । इससे भी आगे बढ़कर रासककार अपने पाठकों की ओर संकेत करके कहता है — 'पण्डितजन का कुकविता से संबंध नहीं रहता और अबुध-जनों का प्रबुधत्व के कारण प्रवेश ही नहीं होता। अतः जो न मूर्ख हैं न पण्डित हैं बल्कि मध्यम कोटि के हैं, उनके सामने इसे सर्वदा पढ़ना —

णह रहइ बुहह कुकुवित्त रेसु, अबुहतणि अबुहह णह पवेसु ।

जिण मुक्ख ण पण्डिय मज्झयार, तिह पुरउ पढिब्बउ सव्ववार ॥¹²

यह भाव निसदेह रासककार के लोकवादी दृष्टिकोण का ही पोषक है । इसके प्रतिपाद्य का संकेत भी लोक-भाव-भूमि को ही स्पष्ट करता है — 'यह अनुरागियों का रतिगृह, कामियों का मन हरनेवाला, मदन के माहात्म्य को प्रकाशित करनेवाला, विरहिणियों के लिए मकरध्वज और रसिकों के लिए विशुद्ध रस संजीवक है —

अणुराइय, रइहरु कामियमणहरु, मयण महप्पह दीवयरो ।

विरहिणिमइरद्धउ सुणह विसुद्धउ, रसियह रससंजीवयरो ॥¹³

द्वितीय प्रक्रम में विरहिणी के रूप का मनोहारी शब्द-चित्र प्रस्तुत किया गया है (छं. 24-25) और बीच में ही मार्ग से जाते पथिक की अवतारणाकर कवि रासक के विवेच्य को गति प्रदान करता है । यह नाटकीय प्रारम्भ रस की दृष्टि से अतीव आकर्षक बन पड़ा है । प्रोषित-पतिका बड़ी उतावली से उसके पास तक पहुँचने का प्रयास करती है — देखिए, अन्तर-बाह्य का कैसा अनूठा साम्य है, चित्रण की मनोवैज्ञानिता और गतिशीलता यहाँ देखे ही बनती है —

तह मणहर चल्लतिय चंचलरमणभरि,

छुडवि खिसिय रसणावलि किकिणरव पसरि ॥26॥

त ज मेहल ठवइ गठि णिट्ठुर सुहय,

तुडिय ताव थूलावलि णवसरहारलय ।

सा तिवि किवि संवरिवि चइवि किवि संचरिय,

णेवर चरण विलगिगव तह पहि पंखुडिय ॥27॥

पडि उट्टिय सविलक्ख सलज्जिर संज्ञसिय,

त सिय सच्छ णियसण मुद्धह विवलसिय ।

त संवरि अणुसरिय पहियपावयणमण,

फुडवि णित्त कुप्पास विलगिय दर सिहण ॥28॥¹⁴

और 'ठाहि ठाहि णिसिद्ध सुथिर अवहारि मणु, णिसुणि किपि जं जंपउँ पहिय पसिज्जि खणु', (छं. 30) कहकर उसे रोकती है। किन्तु, पथिक उस मुग्धा के रूप को देखकर खड़ा रह जाता है। बस, यहीं रासककार को उसके मुख से नख-शिख-वर्णन का सुन्दर सुयोग मिल जाता है (छं. 32-39)। तथा नायिका द्वारा उसका परिचय प्राप्त करने पर वह कुशल चित्तरा नगर-वर्णन (छं. 42-64) का अवसर खोज निकालता है और इस प्रकार रासक का वर्ण्य आगे बढ़ता जाता है। तदुपरि, जब वह खंभात जाने की कहता है (छं. 65), तभी वह विरहिणी आग्रहपूर्वक एवं अश्रुप्रवाह से मौन धारणकर उसे अभिभूत कर देती है और भावुक पथिक पग बढ़ाकर भी जैसे अचल हो जाता है। क्षणोपरांत उस कनकागि का अवरुद्ध धैर्य-बौध सदेश-प्रेषण के रूप में फूट निकलता है। ज्यों-ज्यों वह अपनी विरह-दशा का निरूपण करती है, पथिक द्रवित होता जाता है। किन्तु, विलम्ब होता देखकर जब-जब गमन की इच्छा व्यक्त करता है, तब-तब वह कभी दो गाथा पढ़कर और कभी वत्थु या डोमिलक कहती हुई अपने सन्देश को विस्तार देती जाती है। इस प्रकार पथिक की परिकल्पना से जहाँ काव्य में भाव की गहराई आ गई है वहाँ परस्पर मधुर संवादों से वर्ण्य को विस्तार एवं गति मिलती चली है। यहीं रासककार की शैली और मौलिकता में वैशिष्ट्य आपूरित हो गया है। पाठक किसी एक गाथा या दूहा को ही पढ़कर नहीं रह जाता प्रत्युत आद्यंत उसका पारायणकर रससिक्त होता है। प्रबन्धत्व की यह विशेषता और गरिमा है। विरह-निरूपण की यह शैली रासक को प्रबन्धत्व प्रदान करने में समूचे अपभ्रंश-साहित्य में अनूठी, अकेली और बेजोड़ है।

विरह-चित्रण में रासककार ने जहाँ साहित्य के परम्परित अनुष्ठान का प्रश्रय लिया है, वहाँ नित-नवीन उद्भावनाएँ भी उसके काव्य की अक्षुण्ण निधि हैं। कभी वह विरहिणी विरहाग्नि को बड़वानल से उत्पन्न हुआ बताकर, स्थूल औसुओं से सिक्त होते रहने पर भी, तीव्रता से जलते रहने की कहती है (छं. 89) और कभी घनीभूत पीड़ा में 'मनोदूत' को प्रिय के पास भेजने की भावना व्यक्त करती है तथा उपालम्भ देती है कि न प्रिय आया और न मनोदूत; वह भी वहीं रम गया (छं. 199)¹⁵। सचमुच, मनोदूत की मधुर परिकल्पना रासक के कवि की अनूठी सृष्टि है।

यही नहीं, अनेक लौकिक-रीतियों तथा संस्पर्शों का संपुट देकर इसके प्रणेता ने विरह-आकलन में अद्भुत उत्कर्ष एवं काव्यत्व उड़ेल दिया है। ऐसे ही प्रसंग और स्थल इसकी लोकोन्मुखी प्रवृत्ति के परिचायक हैं। लौकिक दाम्पत्य-जीवन में उपालम्भों का विशिष्ट माधुर्य तथा आकर्षण होता है। ग्रामीण-जीवन में इनके मर्म की महिमा सचमुच अतुलनीय है। संयोग में जहाँ इनमें एक कृत्रिमता किन्तु स्नेह की आतुरी छिपी रहती है वहाँ वियोग के क्षणों में खीझभरी-प्रणय की सात्विकता इनकी विभूति बनती है —

गरुअउ परिहसु किन सहउ पइ पउरिसुनिए ण ।

जिहि अगिहि तूँ विलसयउ ते दद्धा विरहेण ॥¹⁶

अर्थात् 'पौरुष-निलय ! तुम्हारे रहते हुए क्या मैं गुरुतर परिहास नहीं सह रही हूँ कि जिन अंगों से तुमने विलास किया था, उन्हें विरह ने जला दिया'। एक अन्य उपालम्भ में विरहिणी ने प्रिय को 'निशाचर' कहकर संबोधित किया है। यह शब्द अतीव सार्थक तथा व्यंजक है। किन्तु, इसका भाव-सौन्दर्य तब और बढ़ जाता है जब वह स्वयं को भी 'निशाचरी' कहती है। विरह-जन्य स्थिति में रूप तथा संबंध-साम्य के लिए कैसी सार्थक शब्द-योजना रासक के कवि ने प्रस्तुत की है — 'मेरे तेज का ह्रास हो गया है, अंग धँस गये हैं, केश छिटके हैं; मुख-मण्डल फीका पड़ गया है, गति स्थलित और विपरीत हो गई है, कुंकुम और स्वर्ण के समान देह की

काति काली हो गई है । हे निशाचर ! तुम्हारे विरह में मैं मुग्धा निशाचरी हो गई हूँ' (छं. 87) । विरह की तीव्रता में अन्य ऐसे शब्दों — कापालिक (छं. 86), घृष्ट (छं. 139), मूर्ख, खल, पापी (छं. 191) का विरहिणी के मुख से प्रयोग कराकर रासककार ने यह स्पष्ट कर दिया है कि उसके काव्य की मूल भित्ति ग्रामीण लोक-जीवन ही है ।

पुनश्चः, लोक-जीवन में त्योहारों का अपना विशिष्ट महत्त्व है । प्रवासी-पति के आगमन की प्रतीक्षा में आगमपतिकाएँ इन क्षणों निरन्तर बाट जोहती रहती हैं, अंतःकरण में प्रतिपल आशा का संचार होता रहता है । सचमुच, पथिकों की वनिताएँ आशा के बल पर ही जीवित रहती हैं — 'पथिक वनिताः प्रत्ययादाश्वसन्त्यः' । लेकिन, आशा के फलीभूत न होने पर इन त्योहारों में उसके लिए कोई आकर्षण नहीं रह जाता । शरद्-ऋतु में दिवाली के झिलमिल अवसर पर लोक-जीवन की प्रसन्नता किस प्रकार विरहिणी की असह्य वेदना का कारण बन जाती है, निम्न पक्तियों में देखिए — 'अच्छर घरि-घरि गीउ खन्नउ, इक्कु समग्गु कट्टु महु दिन्नउ'—(छन्द 175-180) । दिवाली की रात में काजल लगाने की लोक-प्रचलित रीति का भी 'महिलिय दिति संलाइय अक्खिहि' कहकर यहाँ संकेत किया गया है । इसी प्रकार घरों में चौक पूरने का भी उल्लेख हुआ है — 'घरि-घरि रंमियइ रेह पलत्थिहि' (छं. 175) । बसंत में चतुर्थी को अपने बिछौने पर लेटना लोक में प्रिय-सहवास का द्योतक कहा जाता है (छं. 195) तथा पावस के पश्चात् अगस्त्य ऋषि (नक्षत्र विशेष) के दक्षिण-दिशा में जाने पर लोग शरदागमन का अनुमान लगाते हैं (छं. 159) । इनके अतिरिक्त कहीं प्रस्थान करते समय किसी का रुदन करना लोक में अशुभ माना जाता है । तभी तो पथिक जाते समय रो-रोकर उसके अमंगल न करने की कहता है — 'पहिउ भणइ पहि जंत अमंगलु मह म करि' (109) । इस प्रकार अनेक लोक-प्रचलित रूढ़ियों के प्रयोग से रासक के काव्य-रूप में नैसर्गिक माधुर्य का स्रोत फूट निकला है । द्वितीय प्रक्रम के अंत में जब पथिक विरहिणी से उसके विरहारभ की पूछता है, तब वह ग्रीष्म-ऋतु को कोसने लगती है (129) । फिर तो उसे एक-एक करके षट्ऋतु-वर्णन का सुयोग मिल जाता है ।

यह षट्ऋतु-वर्णन तृतीय प्रक्रम में निरूपित है । जिस प्रकार, लोक-गीतों में बारहमासा विरह की मार्मिकता को बढ़ा देता है, उसी प्रकार शिष्ट शृंगारपरक काव्यों में षट्ऋतु-वर्णन प्रसिद्ध काव्य-रूढ़ि रहा है । भावोद्दीपन के लिए ही इसकी सृष्टि की जाती है । 'ढोला-मारू-रा-दूहा' के साथ इसका साम्य दर्शनीय है । दोनों में इसका प्रारम्भ ग्रीष्म-ऋतु से होता है तथा पथिक-विरहिणी के परस्पर संवाद की तरह ढोला-मालवणी के कथोपकथनों के रूप में ही वर्णित है । ढोला द्वारा मारवणी से मिलने की अभिलाषा व्यक्त करने पर मालवणी क्षुब्ध होकर उसे रोकने के लिए उस ऋतु की भयंकरता का वर्णन करती है और इस प्रकार क्रमशः सभी ऋतुओं के वर्णन का अवसर मिल जाता है।¹⁷ पृथ्वीराज-रासौ के 25वें तथा 62वें समयों में यह इसी रूप में अवलोकनीय है।¹⁸ किन्तु, 'सदेश-रासक' में विरहिणी के हृदयगत भावों की व्यंजना अधिक मार्मिक एवं अनूठी बन पड़ी है । रासककार की शैली ने इसमें चार चौद लगा दिये हैं । तभी न, प्रस्थान की आतुरी में पग बढ़ा-बढ़ाकर भी पथिक ठहर जाता है । यों बाह्य प्रकृति के क्रिया-कलाप का आकलन यहाँ भी हुआ है; किन्तु प्रस्तुत परिस्थिति में पात्र की आंतरिक स्थिति के साथ उसके साधर्म्य तथा वैधर्म्य से निरूपण में तीव्रता का समावेश हो गया है । 'सदेश-रासक' का कवि बाह्य वस्तुओं की संपूर्ण चित्र-योजना इस कौशल से करता है कि उससे विरहिणी के व्यथा-कातर सहानुभूति-संपन्न कोमल हृदय की मर्म-वेदना ही मुखर हो उठती है । वर्णन चाहे जिस दृश्य का हो, व्यंजना हृदय की कोमलता और मर्म-वेदना की ही होती है ।¹⁹ शरद्-ऋतु का वर्णन कितना मर्मभेदी है — 'आकाश में बादल विदीर्ण होकर चले गये । रात्रि में मनोहर तारे दिखलाई पड़ने लगे । xxx नव

सरोवरों की जो शोभा ग्रीष्म-द्वारा हर ली गई थी वह नव शरदागमन से फिर लौट आयी । $\times\times\times\times$ रात्रि में शशि-ज्योत्स्ना ने धवल गृहों को सुशोभित कर दिया । ... मैं रति से वचित, प्रिय से शून्य शैया पर लेटती हुई हत शरद् की रात्रि को, जो यमराज के प्रहार के सदृश घातक है, बिताती हूँ । जिन नारियों के रमते हुए कंत साथ हैं, उन भ्रमण करती हुई स्त्रियों से सरोवर के तट शोभित हैं । $\times\times\times\times$ कोई पुण्यवती केलि करती है और मैं रोते हुए उद्विग्नतापूर्वक रात बिताती हूँ । घर-घर रमणीय गीत होते हैं । सारा दुःख अकेले मुझे ही दे दिया है (छन्द-160-180)। इस प्रकार रासककार ने प्रकृति-चित्रण में न तो 'ढोला-मारू-रा-दूहा' के समान प्रणय-क्षेत्र में भय की अवतारणा की है और न 'पृथ्वीराज-रासौ' सदृश परम्परा का अनुसरण किया है; प्रत्युत अपने वर्ण्य के अनुरूप सदा लोक-धरातल पर खड़े रहकर उसे और अधिक हृदयग्राही बना दिया है । उसकी भाव-प्रवणता और मौलिकता प्रशंसनीय है ।

षट्त्रयु-वर्णन के उपरांत ज्यों ही वह विरहिणी पथिक को आशीष देकर विदा करती है (छं. 222), दक्षिण-दिशा से उसे अपना पति आता हुआ दीख पड़ता है (छं. 223) । अकस्मात् विरह का सम्पूर्ण रंगमंच मिलन के हर्षातिरेक में परिणत हो जाता है और यहीं रासककार अपने पाठकों को आशीर्वाद देकर प्रस्तुत प्रबन्ध की इतिश्री करता है । जिस प्रकार इसका प्रारम्भ नाटकीय ढंग से होता है, उसी भौति अंत भी बड़ा आकर्षक बन पड़ा है । भले ही, सुखान्तता रासक-काव्य-रूप की अपनी विशेषता हो, लेकिन इस प्रकार के आद्यन्त से इसका रूप विलक्षण तथा अतुलनीय बन गया है । अस्तु, लोक-गीतात्मक यह प्रबन्ध भावानुभूति की सौधी-सुगंध और रूप-शिल्प तथा बनावट और बुनावट दोनों दृष्टियों से जहाँ अपभ्रंश-साहित्य की मधुरतम रस-वल्लरी है, वहाँ परवर्ती हिन्दी-साहित्य के लिए अनूठा अवदान है ।

1. तुह विरहपहरसंचूरिआईं विहडति जं न अंगाईं ।

तं अज्ज-कल्ल-संधडण-आसहे णाह तग्गति ॥72॥ द्वि. प्रक्रम, पृ. 19 ।

— सदेश-रासक, संपा.-हजारीप्रसाद द्विवेदी एवं विश्वनाथ त्रिपाठी

2. 'अत्यलोहि अकयत्थि इकल्लिय मिल्हिया' — छं. 92 पृ. 23, द्वि. प्रक्रम ।

'मह णेहह किं वि दुग्गु वणिज्जइ णिब्भय' — छं. 208, पृ. 52, तृतीय प्रक्रम ।

3. द्रष्टव्य — 'मधुमती', राजस्थान साहित्य अकादमी, उदयपुर, पृ. 8-19 ।

4. रास और रासान्वयी काव्य, प्रका. ना. प्र. सभा काशी, पृ. 62, 82 ।

5. वही, पृ. 138, 144 ।

6. माणुस्सदिव्वविज्जाहरेहिं णहमग्गि सूर-ससिबिबे ।

आएहिं जो णमिज्जइ तं णयरे णमह कत्तारं ॥2॥ सन्देश रासक, पृ. 3 ।

7. सन्देश-रासक, संपादक-आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा विश्वनाथ त्रिपाठी, प्रथम प्रक्रम, छं. 4, पृ. 3 ।

8. हिन्दी-साहित्य का इतिहास (प्रथम भाग), डॉ. दयानंद श्रीवास्तव, पृ. 79 ।

9. पुव्वच्छेयाण णमो सुकईण य सहसत्थकुसलाण ।

तियलोए सुच्छदं जेहिं कयं जेहिं णिदिट्ठं ॥5॥

जइ सरवरंभि विमले सूरे उइएसु विअसिआ नलिणी ।

ता किं वाडिविलग्गा मा विअसउ तुबिणी कहवि ॥14॥

जा सस्स कब्ब सत्ती सा तेण अलज्जरेण भणियव्वा ।

जइ चउमुहेण भणियं ता सेसा मा भणिज्जंतु ॥17॥

— सदेश-रासक, संपा.-ह. प्र. द्विवेदी एवं त्रिपाठी, पृ. 3, 5 ।

10. रास और रासान्वयी काव्य, ना. प्र. स. काशी, पृ. 7 ।

11. पय सङ्करी सुभत्ती । एकत्ती कनय राय भोयसी ॥

करकंसी गुज्जरीय । इब्बरियं नैव जीवति ॥43॥

रब्बीरयं रस मंद । वयू पुज्जति साध अभियेन ॥

उकति जुकत्तिय ग्रंथ । नथि कत्थ कवि कत्थिय तेन ॥45॥

याते बसंत मासे । कोकिल झंकार अंब बन करयं ॥

बर वब्बूर विरष्णं । कपोतयं नैव झलकति ॥47॥

— पृथ्वीराज रासौ, सभा. आदि समय, पृ. 18 ।

12. सदेश-रासक, प्रथम प्रक्रम, छं. 21, पृ. 6 ।

13. वही, छंद 22, पृ. 6 ।

14. सदेश-रासक, संपा. ह. प्र. द्विवेदी तथा वि. ना. त्रिपाठी, द्वितीय प्रक्रम, पृ. 9 ।

15. सदेश-रासक, संपा. ह. प्र. द्विवेदी एवं वि. ना. त्रिपाठी, तृतीय प्रक्रम, पृ. 49 ।

16. वही, द्वितीय प्रक्रम, छं. 77, पृ. 20 ।

17. ढोला — पगि-पगि पौणी पथसिर, ऊपरि अंबर-छाँह ।

पावस प्रगट्यउ पदमिणी, कहउत पूगल जाँह ॥244॥

मालवणी — जिण रुति बहु पावस झरइ, बाघ बनहिं बोलंत ।

तिण रुति साहिब बल्लहा, को मंदिर मेल्हंत ॥247॥

— ढोला-मारू-रा-दूहा (पारीख एवं न. स्वामी) सभा, पृ. 77-78 ।

18. पृथ्वीराज-रासौ, ना. प्र. सभा, काशी, 61वाँ समय, पृ. 1578, 1582 ।

19. हिन्दी-साहित्य का आदिकाल, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ. 91 ।

अपभ्रंश भारती

(शोध-पत्रिका)

सूचनाएं

1. पत्रिका सामान्यतः वर्ष में दो बार प्रकाशित होगी ।
2. पत्रिका में शोध-खोज, अध्ययन-अनुसंधान सम्बन्धी मौलिक अप्रकाशित रचनाओं को ही स्थान मिलेगा ।
3. रचनाएं जिस रूप में प्राप्त होंगी उन्हें प्रायः उसी रूप में प्रकाशित किया जायगा। स्वभावतः तथ्यों की प्रामाणिकता आदि का उत्तरदायित्व रचनाकार का होगा।
4. यह आवश्यक नहीं कि प्रकाशक, सम्पादक लेखकों के अभिमत से सहमत हो।
5. रचनाएं कागज के एक ओर कम से कम 3 सें. मी. का हाशिया छोड़कर सुवाच्य अक्षरों में लिखी अथवा टाइप की हुई होनी चाहिए ।
6. रचनाएं भेजने एवं अन्य सब प्रकार के पत्र-व्यवहार के लिए पता —

सम्पादक

अपभ्रंश भारती

दिगम्बर जैन नसियां भट्टारकजी

सवाई रामसिंह रोड

जयपुर-302004

‘कीर्तिलता’ में युयुत्सा का वर्णन

• डॉ. वी. डी. हेगडे

विद्यापति की वाणी वीणापाणि वाग्देवी का शाश्वत आभरण है । कमनीय काव्य के समस्त लक्षण उनकी कविता में अपना अस्तित्व धारण किये हुए हैं । कोमलकान्त पदावली से विभूषित गीतों के रस में पगा पाठक बारम्बार स्मरण करता है कि “विद्यापति के गीतों ने तत्कालीन जनता के प्रियमाण मन को जीने की ताकत दी, उन्होंने जीवन के ताजे स्वरो को पहचाना और उन्हें अपनी मधुरा-भाव-धारा में पखारकर दिव्यता प्रदान की।”¹ गीतकार से परिचित पाठक एक बार इस बात पर विश्वास भी न कर सकेगा कि ‘कीर्तिलता’ गीतकार विद्यापति की लेखनी से ही प्रसूत है । विद्यापति का भावुक कवि कीर्तिलता में यथार्थ के धरातल पर उतरकर आशंकित होता है कि चाहे दुर्जन इस काव्य का परिहास क्यों न करें, काव्य-कला के पारखी इसकी अवश्य प्रशंसा करेंगे । कवि आत्म-विश्वास प्रकट करता है कि यदि दुर्जन मर्म का भेद करता हुआ भी मेरे निकट आता है तो उसे भी मैं अपना मित्र बनाऊँगा ।²

का परबोधउं कमन मनावउं ।

किमि नीरस मन रस लइ लावउं ॥

जइ सुरसा होसइ मझु भासा ।

जो बुज्झहि सो करिहि पससा ॥³

प्रबन्धकार कवि नीरस मन को रस के पास पहुँचाना चाहता है । ऐसा कवि का विश्वास है कि यदि कविभणिति में उत्तम रस होता तो काव्यरसिक बिना कवि की प्रेरणा के स्वयं ही प्रशंसा

करेगा । 'छद्मल्ल'⁴ (काव्यरसिक) को संस्कृत वाणी नहीं भाती ।⁵ 'पाउअ रस'⁶ (प्राकृत रस) सुगमता से नहीं मिलता । अतः कवि घोषणा करता है कि देशी वचन सबको मीठा लगता है। अतः मैं वैसी ही देशी बोली अवहट्ट में रचना करता हूँ ।

देसिल वयणा सब जन मिट्टा ।

ते तैसन जम्पउ अवहट्टा ॥⁷

कल्पान्त तक स्थिर रहनेवाली कीर्ति कीर्तिलता का मूलद्रव्य है । कवि शब्दरूपी खंभों को गाड़कर उस पर काव्यरूपी मंच को बौधकर त्रिभुवन के क्षेत्र में कीर्तिसिंह की कीर्तिरूपी लता फैलाना चाहता है -

तिहुअण खेतहिं काइ तसु कित्तिवल्लि पसरेइ ।

अक्खर खंभारंभ जउ मञ्चो वन्धि न देइ ॥⁸

जिस प्रकार सिंह अपनी सत्ता की स्थापना के लिए युयुत्सु होता है उसी प्रकार कीर्तिसिंह धवल यश को अर्जित करने के लिए युयुत्सु बना रहता है । कीर्तिसिंह की लोकैषणा में कवि की लोकैषणा का सुखद मिश्रण अवश्य द्रष्टव्य है ।

'कीर्तिलता' की संरचना में भृगु-भृगी-संवाद अवलोकनीय है । भृगी पूछती है - संसार में सारतत्त्व क्या है ?⁹ भृगु के अनुसार-मानसहित जीना तथा वीर पुरुष का जन्म लेना सारतत्त्व है ।¹⁰ जो मानसहित जीना चाहता है वही वीर पुरुष है । वीर पुरुष महान् युयुत्सु हुआ करता है। युयुत्सा युद्धवीर की भाव-भूमि हुआ करती है । कीर्तिलता का नायक कीर्तिसिंह अनुपम युयुत्सु है । उसकी प्रत्येक क्रिया युयुत्सा से प्रतिमण्डित है । युयुत्सु यश का लोभी हुआ करता है ।¹¹ अतः अन्ततोगत्वा लोकैषणा एवं युयुत्सा में कार्य-कारणभाव सिद्ध होता है ।

युयुत्सु पुरुषत्व से विभूषित होता है । युयुत्सा का मूलद्रव्य पुरुषत्व है । अभिमान युयुत्सा की आधारशिला है । राजा बलि, रामचन्द्र, भगीरथ तथा परशुराम युयुत्सु एवं स्वाभिमान के रक्षक हैं । युयुत्सु राजकुल (ओइनी वंश) का वर्णन कवि ने जमकर किया है -

जेत्रे खडिअ पुव्व पतिक्ख ॥

जेत्रे सरण न परिहरिअ, जेत्रे अत्थिज विमन नकित्तिअ ॥

जेत्रे अतत्थ नहु भणिय जेत्रे पाअ उम्मग्गे न दिज्जिअ ॥

ता कुल केरा वड्डण कहवा कमण उपाए ॥¹²

“जिस कुल के राजाओं ने पहले के सब शत्रुओं को पराजित कर दिया, जिन्होंने शरणागत का परित्याग नहीं किया और याचकों की इच्छा का विघात नहीं किया; जिन्होंने असत्य भाषण नहीं किया और जिन्होंने कभी उन्मार्ग में पैर नहीं दिया; उस कुल के राजाओं की महिमा के विषय में किस तरह कहा जाय ।”¹³

ओइनी वंश का उपर्युक्त वर्णन कालिदास कृत रघुवंश की भूमिका का स्मरण दिलाता है ।
यथा -

सोऽहमाजन्मशुद्धानाम् आफलोयदकर्मणाम् ।

आसमुद्रक्षितीशानाम् आनाकरथवर्त्मनाम् ॥

यथाविधिहुताग्नीनां यथाकामार्चितार्थिनाम् ।

यथापराधदण्डानां यथाकाल प्रबोधिनाम् ॥

त्यागाय समृतार्थानां सत्याय मितभाषिणाम् ।
 यशसे विजिगीषूणां प्रजायै गृहमेधिनाम् ॥
 रघूणामन्वयं वक्ष्ये¹⁴.....

मितभाषी एवं विजिगीषु राजकुल का परिचय देते हुए कालिदास ने जिस तरह औचित्य का निर्वाह किया है उसी तरह विद्यापति ने भी युयुत्सु ओइनी वंश का परिचय देते हुए औचित्य की सृष्टि की है ।

युयुत्सु कीर्तिसिंह का धवल यश ही प्रथम पल्लव का प्रतिपाद्य है । कवि का कथन है कि कीर्तिसिंह की कीर्तिरूपी सुन्दरी अपने स्वामी के मस्तक के साथ विलास करती है।¹⁵ कीर्तिसिंह का यश इतना धवल है कि शिव के धवल शरीर की धवल विभूति से सुशोभित शशांक भी कीर्तिसिंह के यश की धवलता से न्यून रहने के कारण उसकी कामना करता है। युयुत्सु कीर्तिसिंह जिगीषु है । जिगीषा से प्रेरित युयुत्सा ही यश की धवलता में आधिक्य उत्पन्न करती है ।

राजा गणेश्वर का वध होने पर असलान मन ही मन लज्जित होकर विचारता है कि कीर्तिसिंह को राज्य पुनः लौटा दूँ और उसका सम्मान करूँ ।¹⁶ किन्तु सिंह के समान पराक्रमी, मानघनी, बैर का बदला लेने में तत्पर, कीर्तिसिंह शत्रु द्वारा समर्पित राज्य स्वीकार नहीं करता । यथा —

सिंह परङ्कम मानघन वैरुद्धार सुसज्ज ।
 कित्तिसिंह ण्ह अंगवइ सत्तु समप्पिअ रज्ज ॥¹⁷

कवि ने उक्त पक्तियों में युयुत्सु 'कित्तिसिंह' का जीता-जागता चित्रण प्रस्तुत किया है। कवि के वर्णनानुसार युयुत्सु के तीन अभिलक्षण अवलोकनीय हैं । यथा — सिंह परङ्कम, मानघन और वैरुद्धार सुसज्ज । पिता के हन्ता तथा अपने शत्रु द्वारा समर्पित राज्य को अस्वीकार करना युयुत्सु एवं मानघन कीर्तिसिंह के अनुरूप ही है । जब माता, मित्र और महाजन शत्रु को मित्र बनाकर विरहृत का राज भोगने की बात कहते हैं तब कीर्तिसिंह की हृदय-गिरि-कंदरा में सिंह जाग उठता है और उच्चस्वर में घोषित करता है -

माता भणइ ममतयइ मन्ती रज्जह नीति ।
 मज्झु पिआरी एङ्क पइ वीर पुरिस का रीति ॥
 मान विहूना भोअना सत्तुक देजेर राज ।
 सरण पइट्टे जीअना तीन् काअर काज ॥¹⁸

युयुत्सु कीर्तिसिंह सिंहनाद करता है और अपने हृदय को यह कहकर समुद्घाटित करता है कि माता ममता के कारण कहती है, मंत्री राजनीति कहता है, परन्तु मुझे तो केवल एक पुरुष की रीति प्रिय है । मानविहीन भोजन, शत्रु के दिये हुए राज्य का उपभोग, शरणागत होकर जीना — ये तीनों कायर के काम हैं । कीर्तिसिंह के सिंहनाद में समग्र काव्य का सन्देश ध्वनित होता है । युयुत्सु कीर्तिसिंह अपने पिता के हन्ता, विश्वासघाती असलान को शत्रु मानता है । यह आपाततः स्पष्ट होता है । किन्तु वह कायरता को अपने आजन्म शत्रु के रूप में स्वीकार करता है । उक्त मनःस्थिति से प्रसूत युयुत्सा कीर्तिसिंह के सिंहनाद में अवलोकनीय है ।

राजा कीर्तिसिंह की प्रतिज्ञा क्षत्रियोचित है एवं उसकी सिंहोपम युयुत्सा की परिचायक है। यथा—

पर पुर मारि सजो गहजो बोलए न जा किछु धाए ।
 बप्प वैर उद्धरज न उण परिवण्णा चुक्कजो ॥
 संगर साहस करओ ण उण सरणागत मुक्कजो ।
 दाने दलजो दारिद न उण नहि अख्खर भासजो ॥
 पाने पाढ वरु करजो न उण नीसत्ति पआसजो ।
 अभिमान जजो रक्खजो जीवसओ, नीच समाज न करजो रति ॥¹⁹

कीर्तिसिंह में सुप्त युयुत्सा जागृत होकर वीरोक्तियों की वृष्टि करता है । इससे स्पष्ट होता है कि शत्रु को उसके नगर में मारकर अकेला ही उसे पकड़ना, पिता के वैर का बदला लेना, अपनी की हुई प्रतिज्ञा से भ्रष्ट न होना, युद्ध में पराक्रम से काम लेना, शरणागत बनकर चुप न बैठना, क्षत्रिय होकर अशक्ति का प्रदर्शन न करना, जीव के साथ अभिमान करना, नीच की संगति में रुचि न लेना — ये सब युयुत्सु के अभिलक्षण हैं । राजा कीर्तिसिंह ने अपनी वीर भणिति से 'युयुत्सु' एवं 'युयुत्सा' की पूर्ण व्याख्या कर दी है ।

बदला न लेनेवाला क्लीब कहलाता है । क्लीबता हृदय की दुर्बलता है । भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को उक्त क्लीबता के संबंध में प्रबोधित किया था ।²⁰ राजा कीर्तिसिंह तो स्वयं प्रबुद्ध है जिसे प्रबोधित करने के लिए किसी कृष्ण की आवश्यकता नहीं है । कीर्तिसिंह के अनुसार वैरप्रतिमोचन वीर युयुत्सु का प्रथम कर्तव्य है । पैर से स्पर्श करनेवाले को सर्प रुधिर-पान के लिए नहीं डसता, किन्तु बदला लेने के लिए डसता है । किन्तु ऐसा न करने पर उसकी दुर्बलता स्वयं-सिद्ध हो जाती है । यही बात कालिदास ने राम से कहलवाकर रावण-वध का समर्थन किया था ।²¹ विद्यापति ने भी वीरोक्तियों के ग्रथन से युयुत्सुओं के वीर वातावरण का निर्माण किया है । राजा कीर्तिसिंह क्लीबता का परम शत्रु है; वैरप्रतिमोचन का कट्टर समर्थक है; शत्रु के सम्मुख शरणागति का विरोधी है; दान देकर स्वयं दारिद्र्य ओढ लेनेवाला है; पर 'नही' शब्द कहनेवाला नहीं है । कीर्तिसिंह का उज्ज्वल चरित्र हमें महाराज रघु का स्मरण दिलाता है जिसने विश्वजित् याग में अपना सर्वस्व दक्षिणा के रूप में लुटा दिया है और अपने पास केवल मिट्टी का बरतन बचाकर²² याचकों का दारिद्र्य स्वयं ओढ लिया है । पितृहीन एवं राज्यभ्रष्ट कीर्तिसिंह विपत्ति की घड़ी में भी अभिमान नहीं छोड़ता । उसका उज्ज्वल चरित्र मानधनियों के अग्रेसर केसरी का स्मरण दिलाता है । यथा—

क्षुत्क्षामोऽपि जराकृशोऽपि शिथिलप्राणोऽपि कष्टा दशाम् ।

आपन्नोऽपि विपन्नधीघृतिरपि प्राणेषु नश्यत्स्वपि ॥

मत्तेमेन्द्रविभ्रन्नकुम्भपिशितग्रासैकबद्दस्पृहः ।

किं जीर्णं तृणमत्ति मानमहतामग्रेसरः केसरी ॥²³

कीर्तिसिंह शत्रु द्वारा लौटाये राज्य को स्वीकार नहीं करता । उसमें सोया हुआ युयुत्सु जागृत होकर युद्ध में पराक्रम द्वारा उसे स्वयं अर्जित करना चाहता है । कीर्तिसिंह का उज्ज्वल चरित्र उस वन्य सिंह का स्मरण दिलाता है जिसे अभिषेक या संस्कार की आवश्यकता नहीं पड़ती है । यथा —

नाभिषेको न संस्कारः सिंहस्य क्रियते वने ।

विक्रमार्जितसत्वस्य स्वयमेव मृगेन्द्रता ॥²⁴

जब युयुत्सु कीर्तिसिंह अपने भाई वीरसिंह के साथ जौनपुर के सुलतान इब्राहिम शाह के पास चला तब प्रजा में उत्साह उमड़ पड़ा । उनको किसी ने कपड़ा दिया, किसी ने घोड़ा तथा किसी ने मार्ग-खर्च के लिए पर्याप्त सामग्री दी । किसी ने नदी को पार कराया । किसी ने बोझ पहुँचाया । किसी ने सीधा मार्ग बताया । किसी ने विनयपूर्वक आतिथ्य किया ।²⁵ यह प्रसंग कुश तथा लव को सुप्रीत मुनियों के द्वारा कलश, वल्कल, कृष्णाजिन, यज्ञसूत्र, कमण्डलु, मौंजी, कुठार, काषायवस्त्र, जटाबन्धन, काष्ठरज्जु, यज्ञभाण्ड आदि विभिन्न वस्तुओं के दान-प्रसंग का स्मरण दिलाता है ।²⁶

कीर्तिसिंह के साथ चतुरंगिणी सेना की कूच हुई । हस्ति-सेना की युयुत्सा का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि मदमत्त हाथी वृक्षों को तोड़ रहे थे । वे राशीभूत अन्धकार के समान थे, मानो मूर्तिमान् गर्व थे । वे भारी बड़ी सैदों को मारकर मनुष्य के मस्तक को घसमसा देते थे ।²⁷ युयुत्सु अश्वसेना का वर्णन कवि की कारयित्री प्रतिभा का परिचायक है । यथा —

अनेअ वाजि तेजि ताजि साजि साजि आनिआ ।
 परक्कमेहि जासु नाम दीपे दीपे जानिआ ॥
 विसाल कन्ध चारु वन्ध सत्ति रूअ सोहणा ।
 तलप्प हाथि लौंघि जाथि सत्तु सेण खोहणा ॥
 समथ्थ सूर-ऊर पूर चारि पाजे चक्करे ।
 अनन्त जुज्ज मम्म वुज्ज सामि तार संगरे ॥²⁸

क्रोध में भरकर गरदन को ऊँचा उठाकर दौड़ना, दर्प से विमुग्ध होकर टाप मारना आदि क्रियाएँ घोड़ों की युयुत्सा प्रकट करती हैं । बार-बार हिनहिनाना, निशान के शब्द और भेरी का शोर सुनकर क्रोधपूर्वक धरती खोदना, अपनी गति से हवा को पीछे छोड़ना, वेग से मन को जीतना — आदि क्रियाएँ घोड़ों की बलवती युयुत्सा की परिचायक हैं ।²⁹

युद्ध में जब असलान ने पीठ दिखा दी तब कीर्तिसिंह ने उसे जीवदान देकर यों कहा—

जइ रण भग्गसि तइ तोजे काअर ।
 अरु तोहि मारइ से पुनु काअर ॥³⁰

यदि तू रण से भागता है तो तू कायर है और जो तुझे मारे वह और अधिक कायर है । कायरता की इतनी सुन्दर परिभाषा त्रिभुवन में अन्यत्र नहीं मिलती । युयुत्सु कीर्तिसिंह अपने पिता के हुन्ता असलान को जीतता है; पिता के वैर का बदला लेता है; खोये हुए राज्य को स्वयं अर्जित कर लेता है । 'कीर्तिलता' सहृदयों के सम्मुख यह ध्वनित करती है कि कीर्तिसिंह ने अन्ततोगत्वा कायरता को जीता है । असलान तो निमित्तमात्र है ।

1. कीर्तिलता और अवहट्ट भाषा, शिव प्रसाद सिंह, पृ. 18 ।

2. कीर्तिलता - प्रथम पल्लव — 22, साहित्य सदन, चिरगाँव, झौंसी, प्रथम संस्करण 1962 ।

3. कीर्तिलता - प्रथम पल्लव — 27 से 30 तक ।

4. " " " — 31 ।

5. " " " — 33 ।

6. " " " — 34 ।

7. कीर्तिलता - प्रथम पल्लव - 35, 36 ।
8. " " " - 15, 16 ।
9. " " " - 37 ।
10. " " " - 38 ।
11. " " " - 41, किति लुब्धञ्ज सूर संगम ।
12. " " " - 65 से 68 तक ।
13. " " " - 65 से 68 तक, वासुदेवशरण अग्रवाल के द्वारा
निरूपित हिन्दी अर्थ ।
14. रघुवंश - प्रथम सर्ग - 5, 6, 7, 9 ।
15. कीर्तिलता - प्रथम पल्लव - 103, 105 ।
16. कीर्तिलता - द्वितीय पल्लव - 16, 17, 20 ।
17. कीर्तिलता - द्वितीय पल्लव - 21, 22 ।
18. कीर्तिलता - द्वितीय पल्लव - 33 से 36 तक ।
19. कीर्तिलता - द्वितीय पल्लव - 41, 43 से 47 तक ।
20. श्रीमद् भगवद् गीता - द्वितीय अध्याय - 3 ।
21. रघुवंश - 14-41 ।
22. 'स मृन्मये वीतहिरण्मयत्वान् पात्रे निघायाध्यमनर्घशील ।' रघुवंश 5-2 ।
23. सुभाषितरत्नभाण्डागार - अष्टम संस्करण 1952, पृ. 230 ।
24. सुभाषितरत्नभाण्डागार - अष्टम संस्करण 1952, निर्णय सागर प्रेस, मुंबई-2, पृ. 229 ।
25. कीर्तिलता - द्वितीय पल्लव - 65, 66, 69 से 73 तक ।
26. वाल्मीकिरामायण - बालकाण्ड - चतुर्थ सर्ग ।
27. कीर्तिलता - चतुर्थ पल्लव - 15, 19, 20, 22 ।
28. कीर्तिलता - चतुर्थ पल्लव - 28 से 33 तक ।
29. कीर्तिलता - चतुर्थ पल्लव - 34, 35, 36, 37, 53 ।
30. कीर्तिलता - चतुर्थ पल्लव - 249, 250 ।

अपभ्रंश कथा सौरभ

• डॉ. कमलचन्द सोगाणी

अपभ्रंश साहित्य पद्यात्मक साहित्य है, इसमें गद्य-साहित्य प्रायः नगण्य है । अपभ्रंश के विद्यार्थियों के अध्ययन एवं अभ्यास हेतु प्राकृत-कथाओं¹ से अनुदित कथा संकलन, अपभ्रंश कथा सौरभ, जो शीघ्र प्रकाश्य है, की दो कथाएँ (i) अमंगलिय पुरिसहो कहा तथा (ii) विउसीहे पुत्त-बहूहे कहाणगु यहाँ हिन्दी-अनुवादसहित प्रकाशित की जा रही है ।

-
1. डॉ. राजाराम जैन द्वारा संपादित-पाइय-गज्ज-संगहो, प्रकाशक-प्राच्य भारती प्रकाशन, आरा में संकलित (i) अमंगलिय पुरिसस्स कहा तथा (ii) विउसीए पुत्तवहूए कहाणगं ।

अमंगलिय पुरिसहो कहा

एकहिं णयरि एकु अमंगलिउ मुद्ध पुरिसु आसि । सो एरिसु अत्थि जो को वि पभाये तहो मुह पासेइ, सो भोयणु पि न लहेइ । पउरा वि पच्चूसे कयावि तहो मुहु न पिक्खहिं । नरवइए वि अमंगलिय पुरिसहो वट्टा सुणिआ । परिक्खेवं नरिदे एगया पभायकाले सो आहूउ, तासु मुहु दिट्ठु । जइयहुं राउ भोयणा उवविसइ, कवलु च मुहि पक्खवइ, तइयहुं अहिलि नयरे अकम्हा परचक्क भये हलबोलु जाउ । तावेहिं नरवइ वि भोयणु चयेवि सहसा उट्टेविणु ससेणु नयरहे बाहिं निग्गउ ।

भय कारणु अदट्टण पुणु पच्छा आगउ । समाणु नरिंदु चितेइ—इमहो अमंगलियहो सरूवु मइं पच्चक्खु दिट्ठु, तओ एहो हंतव्वो । एवं चितेपि अमंगलिय कोक्काविएप्पिणु वहेवं चंडालसु अप्पेइ । जइयहुं एहो रुवंतु, सकम्मु निंदंतु चंडाले सह गच्छंतु अत्थि, तइयहुं एकु कारुणिउ बुद्धिणिहाणु वहाहे नेइज्जमाणु तं दट्टणं कारणु णाइ तासु रक्खणसु कण्णि किपि कहेप्पिणु उवाय दंसेइ । हरिसंतु जावेहिं वहस्सु थंभि ठविउ तावेहिं चंडालु तं पुच्छइ—‘जीवणु विणा तउ कावि इच्छा होइ, तया मग्गियव्वा ।’ सो कहेइ - महु नरिंद मुह दंसण इच्छा अत्थि । तया सो नरिंद समीवं आणीउ । नरिंदु तं पुच्छइ - एत्थु आगमण किं पओयणु ?

सो कहेइ - हे नरिंदु ! पच्चूसे महु मुहस्सु दंसणे भोयणु न लहिज्जइ । परन्तु तुम्हहं मुह पेक्खणे मज्झु वहु भवेसइ, तइयहुं पउर कि कहेसति/कहेसहिं । महु मुहहे सिरिमंतहं मुह दंसणु केरिसु फलउ संजाउ ? नायरा वि पभाए तुम्हहं मुह कहं पासिहिरे । एवं तासु वयण जुत्तिए संतुट्ठु नरिंदु । सो वहाएसु निसेहेवि पारितोसिउ च दाएवि हरिसिउ सो अमंगलिउ वि संतुस्सिउ ।

अमांगलिक पुरुष की कथा

एक नगर में एक अमांगलिक मूर्ख पुरुष था । वह ऐसा था - जो कोई भी प्रभात में उसके मुँह को देखता वह भोजन भी नहीं पाता (उसे भोजन भी नहीं मिलता) । नगर के निवासी भी प्रातःकाल में कभी भी उसके मुँह को नहीं देखते थे । राजा के द्वारा भी अमांगलिक पुरुष की बात सुनी गई । परीक्षा के लिए राजा के द्वारा एक बार प्रभातकाल में वह बुलाया गया, उसका मुख देखा गया । ज्योंही राजा भोजन के लिए बैठा, और मुँह में (रोटी का) गास रखा त्योंही समस्त नगर में अकस्मात् शत्रु के द्वारा आक्रमण के भय से शोरगुल हुआ । तब राजा भी भोजन को छोड़कर (और) शीघ्र उठकर सेना-सहित नगर से बाहर गया ।

और भय के कारण को न देखकर बाद में आ गया । अहंकारी राजा ने सोचा - इस अमांगलिक के स्वरूप को मेरे द्वारा प्रत्यक्ष देखा गया, इसलिए यह मारा जाना चाहिए । इस प्रकार विचार-कर अमांगलिक को बुलवाकर वध के लिए चाण्डाल को सौंप दिया । जब यह रोता हुआ स्व-कर्म की (को) निन्दा करता हुआ चाण्डाल के साथ जा रहा था, तब एक दयावान, बुद्धिमान ने वध के लिए ले जाए जाते हुए उसको देखकर कारण को जानकर उसकी रक्षा के लिए कान में कुछ कहकर उपाय दिखलाया । (इसके फलस्वरूप वह) प्रसन्न होते हुए (चला) । जब (वह) वध के खम्भे पर खड़ा किया गया तब चाण्डाल ने उसको पूछा - जीवन के अलावा तुम्हारी कोई भी (वस्तु) की इच्छा हो, तो (तुम्हारे द्वारा) (वह वस्तु) मँगी जानी चाहिए । उसने कहा - मेरी इच्छा राजा के मुख-दर्शन की है । तब वह राजा के सामने लाया गया । राजा ने उसको पूछा— यहाँ आने का प्रयोजन क्या है ?

उसने कहा—हे राजा ! प्रातःकाल में मेरे मुख के दर्शन से (तुम्हारे द्वारा) भोजन ग्रहण नहीं किया गया, परन्तु तुम्हारे मुख के देखने से मेरा वध होगा तब नगर के निवासी क्या कहेंगे ? मेरे मुँह (दर्शन) की तुलना में श्रीमान् के मुख-दर्शन से कैसा फल हुआ ? नागरिक भी प्रभात में तुम्हारे मुख को कैसे देखेंगे ? इस प्रकार उसकी वचन की युक्ति से राजा संतुष्ट हुआ । (वह) वध के आदेश को रद्द करके और उसको पारितोषिक देकर प्रसन्न हुआ । (इससे) वह अमांगलिक भी संतुष्ट हुआ ।

विउसीहे पुत्त-बहूहे कहाणगु

कहिं णयरि लच्छीदासु सेट्टि वरीवट्टइ । सो बहुधण-संपत्तिए गव्विट्ठु आसि । भोगविलासहिं एव लग्गु कयावि धम्मु ण कुणेइ । तासु पुत्तु वि एयारिसु अत्थि । जोव्वणि पिउए धम्मिअहो धम्मदासहो जहत्यनामाए सीलवईए कन्नाए सह पुत्तसु पाणिगहणु कराविउ । सा कन्ना जइयहुं अट्टवासा जाया, तइयहुं ताए पिउ पेरणाए साहणी सगासहु सव्वण्ण धम्म सवणे सम्मत्तु अणुव्वयइं य गहीयइं, सव्वण्ण धम्मि अईव निउणा संजाआ ।

जइयहुं सा ससुर गेहि आगया तइयहुं ससुराइ धम्महु विमुहु देक्खेवि ताए बहुदुहु संजाउ । कहं मज्झु नियवय निव्वाहु होसइ ? कहं वा देवगुरुहं विमुहहं ससुराइ धम्मोवएसु भवेसइ, एव सा वियारेइ ।

एगया 'संसारु असारु, लच्छी वि असारा, देहु वि विणस्सरु, एक्कु धम्मु च्चिय परलोअपवन्नहं जीवहं आहारु' ति उवएसदारणे नियभत्ता सव्वण्ण धम्मं वासिउ कउ । एव सासू वि कालंतरे बोहेइ । ससुर पडिबोहेव सा समयु मग्गेइ ।

एगया ताहे घरि समणगुणगणालकिउ महव्वइ नाणी जोव्वणत्थु एक्कु साहु भिक्खसु समागउ । जोव्वणि वि गहीयवय संत दंत साहु घरे आगय देक्खेप्पिणु आहारे विज्जमाणे वि ताए वियारिय—जोव्वणे महव्वय महादुल्लहु, कहं एते एतहिं जोव्वणत्तणे गहीय ? इति परिक्खेव समस्साहे उत्तरं पुट्टं-अहुणा समउ न संजाउ कि पुव्वं निग्गया ? ताहे हियये गउ भाउ णाइ साहुए उत्तु—'समयणाणु', कया मच्चु होसइ ति नत्थि नाणु, तेण समय विणा निग्गउ । सा उत्तरु णाएवि तुट्टा । मुणिं वि सा पुट्टा—कइ वरिसा तुहुं संजाया ? मुणि पुच्छाभावु णाइ वीसवासेहिं जाअहिं वि ताए बारसवासु ति उत्तु । पुणु 'तुज्ज सामि कइ वासा जाआ' ति पुट्टु । ताहे पियहो पणवीसवासहिं जाअहिं वि पंचवासा उत्ता, एव सासूहे 'छमासा' कहिया । मुणिं ससुरहो पुच्छिउ, 'सो अहुणा न उप्पण्णु अत्थि' ति सदा भणिया ।

एवं वहु साहु वट्टा अंतट्टिं ससुरें सुआ । लद्धभिक्खे साहुहि गए सो अईव कोहाउत्तु संजाउ, जओ पुत्तवहू मइं उद्दिस्सेवि 'न जाउ' ति कहेइ । रुट्टु सो पुत्तसु कहेवि हट्टु गच्छइ । गच्छन्तु ससुरु सा वयइ—भुज्जेवि हे ससुरु ! तुहुं गच्छहि । संसुर कहेइ - जइ हउं न जाउ अत्थि, तो कहं भोयणु च्चवेमि-भक्खेमि, इअ कहेप्पिणु हट्टि गउ । पुत्तसु सव्वु वुत्तंतु कहेइ - 'तउ पत्ती दुरायारा असब्भवयणा अत्थि, अओ तं गिहाहु निक्कास ।

विदुषी पुत्रवधू का कथानक

किसी नगर में लक्ष्मीदास सेठ भली प्रकार से रहता था । वह बहुत धन-संपत्ति के कारण अत्यन्त गर्वीला था । भोगविलासों में ही (वह) लगा हुआ (था) (और) कभी भी धर्म नहीं करता था। उसका पुत्र भी ऐसा ही था । यौवन में पिता द्वारा धार्मिक धर्मदास की यथानाम शीलवती कन्या के साथ पुत्र का विवाह करवा दिया गया । जब वह कन्या आठ वर्ष की हुई, तब उसके द्वारा पिता की प्रेरणा से (एक) साध्वी के पास सर्वज्ञ के धर्म के श्रवण से सम्यक्त्व और अणुव्रत ग्रहण किए गए । सर्वज्ञ के धर्म में (वह) बहुत निपुण हुई ।

जब वह ससुर के घर में आ गई, तब ससुर आदि को धर्म से विमुख देखकर, उसके द्वारा बहुत दुःख प्राप्त किया गया । मेरे निजव्रत का निर्वाह कैसे होगा ? अथवा देव-गुरु से विमुख ससुर आदि के लिए धर्मोपदेश कैसे संभव होगा ? इस प्रकार वह विचार करती है ।

संसार असार है, लक्ष्मी भी असार है, देह भी विनाशशील है, एक धर्म ही परलोक जाने-वाले जीव के लिए आधार है, इस प्रकार एक बार उपदेश देने से निज पति सर्वज्ञ के धर्म में संस्कारित किया गया । कुछ समय पश्चात् (वह) इसी प्रकार सास को भी समझाती है । ससुर को समझाने के लिए वह समय खोजने लगी ।

एक बार उसके घर में श्रमण-गुण-समूह से अलंकृत महाव्रती ज्ञानी, यौवन में स्थित एक साधु भिक्षा के लिए आये । यौवन में ही व्रत को ग्रहण किए हुए शान्त और जितेन्द्रिय साधु को घर में आया हुआ देखकर आहार को प्राप्त करते हुए होने पर ही उसके द्वारा विचार किया गया, यौवन में महाव्रत अत्यन्त दुर्लभ (है) । इनके द्वारा इस यौवन अवस्था में (महाव्रत) कैसे ग्रहण किए गए ? इस प्रकार परीक्षा के लिए समस्या का उत्तर पूछा गया। अभी समय न हुआ, पहिले ही (आप) क्यों निकल गए ? उसके हृदय में उत्पन्न भाव को जानकर साधु के द्वारा कहा गया— ज्ञान समय (है) । कब मृत्यु होगी ऐसा ज्ञान (किसी को) नहीं है, इसलिए समय के बिना निकल गया । वह उत्तर को समझकर संतुष्ट हुई । मुनि के द्वारा भी वह पूछी गई । तुम्हें उत्पन्न हुए कितने वर्ष हुए ? मुनि के प्रश्न के आशय को जानकर बीस वर्ष की हो जाने पर भी उसके द्वारा 'बारह वर्ष' कहे गये । फिर, तुम्हारे स्वामी का (जन्म हुए) कितने वर्ष हुए ? इस प्रकार (यह) पूछा गया । उसके द्वारा प्रिय का (जन्म हुए) पच्चीस वर्ष हो जाने पर भी पाँच वर्ष कहा गया, इस प्रकार सासू का छः माह कहा गया, ससुर के लिए पूछने पर 'वह अभी उत्पन्न नहीं हुआ है', इस प्रकार शब्द कहे गये ।

इस प्रकार बहू और साधु की वार्ता भीतर बैठे हुए ससुर के द्वारा सुनी गई । भिक्षा को प्राप्त साधु के चले जाने पर वह अत्यन्त क्रोध से व्याकुल हुआ, क्योंकि पुत्रवधू मुझको लक्ष्य करके कहती है कि (मैं) उत्पन्न नहीं हुआ । वह रूठ गया, (और) पुत्र को कहने के लिए दुकान पर गया । जाते हुए ससुर को वह कहती है - हे ससुर ! आप भोजन करके जाएं । ससुर कहता है - यदि मैं उत्पन्न नहीं हुआ हूँ, तो भोजन कैसे चबाऊँगा - खाऊँगा । इस (बात) को कहकर दुकान पर गया। पुत्र को सब वार्ता हकीकत कही । तेरी पत्नी दुराचारिणी है और अशिष्ट बोलने-वाली है, इसलिए (तुम) उसको घर से निकालो ।

सो पिउ सह गेहि आगउ । (सो) बहू पुच्छइ - किं माउ पिउ अवमाणु कउ ? साहु सह वट्टाहिं कि असच्चु उत्तरु दिण्णु ? ताए उचु - तुम्हें मुणि पुच्छह, सो सव्वु कहिहिइ । ससुरु उवस्सइ जाएवि सावमाणु मुणि पुच्छइ - हे मुणि, अज्जु मह गेहि भिक्खसु तुम्हे कि आगया ? मुणि कहेइ - तुम्हहं घरु ण जाणामि, तुहं कुत्थ वसहि ? सेट्ठि वियारेइ—'मुणि असच्चु कहेइ' । पुणु पुट्टु - कत्थ वि गेहि बालाए सह वट्टा कया कि ? मुणि कहेइ - 'सा बाला अईव कुसला, ताए मह वि परिक्खा कया ।' ताए हउ वुत्तु—समया विणा कहं निगगउ सि ? मइ उत्तरु दिण्णु - "समयहो - मरणसमयहो नाणु नत्थि, तेण पुव्ववये निगगउ म्हि ।" मइ वि परिक्खेवि सव्वाहु ससुराइ वासाइ पुट्टाइ । ताए सम्म कहियाइ । सेट्ठि पुच्छइ - ससुरु न जाउ इअ ताए कि कहिय ? मुणि उचु—सा चिअ पुच्छिज्जउ, जओ 'विउसीए ताए जहत्यु भावु णाइज्जइ' ।

ससुरु गेहु जाइ पुत्तवहु पुच्छइ - 'तइं मुणि पुरओ कि एवं वुत्त - मह ससुरु जाउ वि न।' ताए उचु - 'हे ससुर, धम्महीण मणुसहो माणवभवु पत्तु वि अपत्तु एव, जओ सद्धम्म किच्चहिं सहलु भवु न कउ सो मणुसभव निप्फल चिय । तओ तउ जीवणु पि धम्महीणु सव्वु गउ । तेण मइं कहिअ - मह ससुरहो उप्पत्ति एव न ।' एवं सच्चि ठाणि तुट्टु धम्माभिमुह जाउ । पुणु पुट्टु - पइं सासू छम्मासा कहं कहिआ ? ताए उचु—सासू पुच्छह । सेट्ठिए सा पुट्टा । ताए वि कहिअ - पुत्तवहू वयणु सच्चु, जओ मह सवण्ह धम्मपत्तीहिं छमासा एव जाया, जओ इओ छमासाहु पुव्वं कत्थ वि मरणपसगे हउ गया । तत्थ थीहु विविहगुणदोसवट्टा जाया ।

एगाए बुड्ढाए उचु - नारीहु मज्जे इमाहे पुत्तवहु सेट्टा । जोव्वणवए वि सासूभत्तिपरा धम्मकज्जे सा एव अपमत्ता, गिहकज्जहिं वि कुसला, नन्ना एरिसा । इमाहे सासू निब्भगा, एरिसीए भत्तिवच्छलाए पुत्तवहूए वि धम्मकज्जि पेरिज्जमाणावि धम्मु न कुणेइ, इमु सुणेवि बहुगुणरंजिआ ताहे मुहहे धम्मो पत्तो । धम्मपत्तीहिं छमासा जाया, तओ पुत्तवहूए छम्मासा कहिआ, तं जुत्तु ।

वह पिता के साथ घर में आया । (वह) बहू को पूछता है — (तुम्हारे द्वारा) माता-पिता का अपमान क्यों किया गया ? साधु के साथ वार्ता में असत्य उत्तर क्यों दिए गए ? उसके द्वारा कहा गया - तुम्ही मुनि को पूछो, वह सब कह देगे । ससुर ने उपासरे में जाकर अपमान-सहित मुनि को पूछा — हे मुनि । आज मेरे घर में भिक्षा के लिए तुम क्यों आये ? मुनि ने कहा - तुम्हारे घर को नहीं जानता हूँ, तुम कहाँ रहते हो ? सेठ विचारता है कि मुनि असत्य कहता है । फिर पूछा गया - क्या किसी भी घर में बाला के साथ वार्ता की गई ? मुनि ने कहा - वह बाला अत्यन्त कुशल है । उसके द्वारा मेरी भी परीक्षा की गई । उसके द्वारा मैं कहा गया - समय के बिना तुम कैसे निकले हो ? मेरे द्वारा उत्तर दिया गया - समय का, मरण समय का ज्ञान नहीं है, इसलिए आयु के पूर्व में ही निकल गया हूँ । मेरे द्वारा भी परीक्षा के लिए ससुर आदि सभी के वर्ष (आयु) पूछे गये (तो) उसके द्वारा (बाला के द्वारा) उचित प्रकार से उत्तर कहे गये। सेठ ने पूछा — ससुर उत्पन्न नहीं हुआ, यह उसके द्वारा क्यों कहा गया ? मुनि के द्वारा कहा गया - वह ही पूछी जाए, क्योंकि उस विदुषी के द्वारा यथार्थ भाव जाने जाते (जाने गये) हैं ।

ससुर घर जाकर पुत्रवधू से पूछता है - तुम्हारे द्वारा मुनि के समक्ष इस प्रकार से क्यों कहा गया (कि) मेरा ससुर उत्पन्न ही नहीं (हुआ है) । उसके द्वारा कहा गया - हे ससुर ! धर्महीन मनुष्य का मनुष्य भव प्राप्त किया हुआ भी प्राप्त नहीं किया हुआ (अप्राप्त) ही है, क्योंकि सत्-धर्म की क्रिया के द्वारा (मनुष्य) भव सफल नहीं किया गया (है) (तो) वह मनुष्य-जन्म निरर्थक ही है । उस कारण से तुम्हारा सारा जीवन धर्महीन ही गया, इसीलिए मेरे द्वारा कहा गया — मेरे ससुर की उत्पत्ति ही नहीं है । इस प्रकार सत्य बात पर (वह) सन्तुष्ट हुआ और धर्माभिमुख हुआ। फिर पूछा गया — तुम्हारे द्वारा सासू की (उम्र) छः मास कैसे कही गई ? उसके द्वारा उत्तर दिया गया - सासू को पूछो । सेठ के द्वारा वह पूछी गई । उसके द्वारा भी कहा गया— पुत्र की बहू के वचन सत्य हैं, क्योंकि मेरी सर्वज्ञ-धर्म की प्राप्ति में छः माह ही हुए हैं, क्योंकि इस लोक में छः मास पूर्व मैं किसी (की) मृत्यु के प्रसंग में गई । वहाँ उस स्त्री (बहू) के विविध गुण-दोषों की वार्ता हुई ।

(वहाँ) एक वृद्धा के द्वारा कहा गया - स्त्रियों के मध्य में इसकी पुत्रवधू श्रेष्ठ है । यौवन की अवस्था में भी वह सासू की भक्ति में लीन (तथा) धर्म-कार्यों में भी अप्रमादी है, गृहकार्यों में भी कुशल (उसके) समान दूसरी नहीं है । इसकी सासू अभागी है, ऐसी भक्ति-प्रेमी पुत्रवधू के द्वारा धर्म-कार्य में प्रेरित किए जाते हुए भी धर्म नहीं करती है । इसको सुनकर बहू के गुणों से प्रसन्न हुई (मेरे द्वारा) उसके मुख से धर्म प्राप्त किया गया । धर्म-लाभ में छः मास हुए। इसलिए पुत्रवधू के द्वारा छः मास कहे गये, वह युक्त है ।

पुत्तु वि पुट्टु, तेण वि उत्तु — रत्तिहिं समय-धम्मोवएसपराए भज्जाए संसारासारदंसणै भोगविलासहं च परिणामदुहदाइत्तणे, वासाणईपूरतुल्ल जुव्वणत्तणे य देहसु खणभंगुरतणे जयि धम्मु एव सारु ति उवदिट्ठु । हउँ सव्वण्णु-धम्माराहगो जाउ, अज्जु पंचवासा जाया। तओ बहुए मई उदिस्सेवि पंचवासा कहिआ, त सच्चु । एव कुडुंबसु धम्मपत्तिहे बट्टा विउसीहे य पुत्तबहूहे जहत्यवयणु सुणेप्पिणु लच्छीदासु वि पडिबुद्धु बुद्धतणि वि धम्मु आराहिण सग्गइ पत्तु सपरिवारु ।

पुत्र भी पूछा गया, उसके द्वारा भी कहा गया — रात्रि में सिद्धान्त और धर्म के उपदेश में लीन पत्नी के द्वारा संसार में असार के दर्शन से और भोगविलास के परिणाम के दुखदाई होने से, वर्षा नदी के जल-प्रवाह के समान यौवनावस्था के कारण और देह की क्षणभंगुरता से, जगत में धर्म ही सार (है), इस प्रकार बताया गया । मैं सर्वज्ञ के धर्म का आराधक बना, आज पाँच वर्ष हुए । इसीलिए बहू के द्वारा मुझको लक्ष्य करके पाँच वर्ष कहे गए, वह सत्य है । इस प्रकार कुटुम्ब के लिए धर्म-लाभ की वार्ता से विदुषी पुत्रवधू के यथार्थ वचन को सुनकर लक्ष्मीदास भी ज्ञानी (हुआ) और बुढ़ापे में (उसके द्वारा) भी धर्म पाला गया । उसने सपरिवार सन्मार्ग प्राप्त किया ।

कमल परिमल आमिलिय अलिउल

तो णिवेण लोएण सरवरं, लक्खिय असेस पि मणहरं ।
 णीलरयण पालीएँ पविउलं, कमलपरिमलामिलिय अलिउलं ।
 अमरललणकय कीलकलयलं, चलियवलियउल्ललियझसउलं ।
 कलमरालमुहदलियसयदलं, लुलियकोलउलहलियकदलं ।
 पीलुलीलपयचलियतलमलं, गलियणलणपिंगहयजलं ।
 अणिलविहुयकल्लोलहयथलं, तच्छलेण णं छिवइ णहयलं ।
 पत्थिउ व्व कुवलयविराइयं, पुंडरीयणियरेण छाइयं ।
 करिरहंगसारंगभासियं, छंदयं विलासिणि पयासियं ।
 घत्ता-सरु पेच्छेंवि लोउ, हरिसें कहिँ मि ण माइउ ।
 माणससरें णाईं अमरणियरु संपाइउ ॥

सुदंसणचरिउ,

7.16

— तभी राजा व अन्य लोगों ने सरोवर की ओर लक्ष्य किया, जो समस्तरूप से मनोहर था । वह अपने नील रत्नों की पक्ति से अतिविपुल दिखाई दे रहा था । वहाँ कमलों की सुगंध से भ्रमरपुंज आ मिले थे । देवललनाओं की क्रीड़ा का कलकल शब्द हो रहा था । मछलियों के पुंज चल रहे थे, मुड़ रहे थे और उछल रहे थे । कलहंसों के मुखों द्वारा शतदल कमल तोड़े जा रहे थे, तथा डोलते हुए वराहों के झुण्डों द्वारा जड़े खोदी जा रही थीं । हाथियों की क्रीड़ा से उनके पैरों द्वारा नीचे का मल (कीचड़) चलायमान होकर आ रहा था । कमलों की झड़ी हुई रज से जल पिंगवर्ण हो रहा था । पवन से झकोरी हुई तरंगों द्वारा थलभाग पर आघात हो रहा था, मानो वह उसी बहाने नभस्तल को छू रहा हो । वह सरोवर नील-कमलों (कुवलयों) से शोभायमान, श्वेत-कमलों के समूहों से आच्छादित, हाथियों, चक्रवाक पक्षियों तथा चातकों से उद्भासित था, अतएव वह एक राजा के समान था, जो कुवलय (पृथ्वी-मण्डल) पर विराजमान प्रधानों के समूह से शोभायमान तथा हाथियों, रथों और घोड़ों से प्रभावशाली हो। उस सरोवर को देखकर लोग हर्ष से कहीं समाए नहीं, मानो दवों का समूह मानस-सरोवर पर आ पहुँचा हो।

• अनु. डॉ. हीरालाल जैन

प्रौढ़ अपभ्रंश रचना सौरभ

• डॉ. कमलचन्द सोगाणी

अपभ्रंश भारती के प्रथम अंक में अपभ्रंश व्याकरण के सामान्य अध्ययन के लिए रचित 'अपभ्रंश रचना सौरभ', जो अब पुस्तक-रूप में प्रकाशित है, के कुछ अंश प्रकाशित किये गये थे । उसी क्रम में विशेष अध्ययन हेतु सद्य प्रकाश्य 'प्रौढ़ अपभ्रंश रचना सौरभ' के 'अव्यय' प्रकरण का कुछ अंश यहाँ प्रकाशित किया जा रहा है । इसमें अव्यय के उदाहरण अपभ्रंश के मूल-ग्रन्थों (पउमचरिउ, णायकुमारचरिउ, जसहरचरिउ तथा हेम प्राकृत व्याकरण) से संकलन किये गये हैं । आशा है, इससे विद्यार्थियों एवं पाठकों को अव्ययों के प्रयोग सहजतया स्पष्ट हो सकेंगे । पाठकों के सुझाव मेरे बहुत काम के होंगे।

1. ऐसे शब्द जिनके रूप में कोई विकार-परिवर्तन न हो और जो सदा एक से, सभी विभक्ति, सभी वचन और सभी लिंगों में एक समान रहें, अव्यय कहलाते हैं । लिंग, विभक्ति और वचन के अनुसार जिनके रूपों में घटती-बढ़ती न हो वह अव्यय है, अभिनव प्राकृत व्याकरण, डॉ. नेमीचन्द शास्त्री, पृ. 213 ।

पाठ - 1

स्थानवाची अव्यय

- | | | |
|--------------------------------|---|---------------------------|
| 1. (i) तेत्थु/तहिं/तेत्तहे/तेउ | = | वहाँ |
| (ii) एत्थ/एत्थु/एत्तहे | = | यहाँ |
| (iii) केत्तहे/कहिं/कत्थ/केत्थु | = | कहाँ |
| (iv) जेत्यु/जहिं/जेत्तहे/जउ | = | जहाँ |
| (v) सव्वेत्तहे | = | सब स्थान पर |
| (vi) अण्णेत्तहे | = | दूसरे स्थान पर |
| 2. (i) कहन्तिउ/कउ | = | कहाँ से |
| (ii) केत्थु | = | कहाँ से |
| (iii) कहिं | = | कहाँ से |
| (iv) एत्तहे | = | यहाँ से |
| (v) एत्तहे एत्तहे | = | एक ओर दूसरी ओर |
| (vi) तत्थहो | = | वहाँ से |
| (vii) तहिंतिउ | = | वहाँ से |
| 3. (i) कहिं चि | = | कहीं पर, किसी जगह |
| (ii) कत्थइ | = | कहीं |
| (iii) कत्थ वि | = | कहीं |
| (iv) कहि मि | = | कहीं |
| 4. (i) पासु/पासे | = | पास, समीप |
| (ii) दूर | = | दूर |
| (iii) पच्छए/पच्छले/अणुपच्छा | = | पीछे |
| (iv) पुरे/अगगले/अगगए | = | आगे |
| (v) उप्परि | = | ऊपर |
| (vi) हेट्ठि | = | नीचे |
| (vii) पासहो | = | पास से, समीप से |
| (viii) दूरहो | = | दूर से, दूरवर्ती स्थान पर |
| (ix) दूरें | = | दूर से |
| (x) चउपासें/चउपासेहिं/चउपासिउ | = | चारों ओर, चारों ओर से |
| (xi) पासेहिं | = | पास में |

संकलित वाक्य-प्रयोग

1. 1. दसरह-जणय वे वि गय तेत्तहे ।
पुरवरु कउतुकमंगलु जेत्तहे ॥ (प. च. 21.2)
— दशरथ और जनक दोनों वहाँ गये, जहाँ कौतुकमंगल श्रेष्ठ नगर था ।
 2. एत्थु ण हरिसु विसाउ करेवउ । (प. च. 28.12)
— यहाँ/इस विषय में/इस सम्बन्ध में हर्ष और शोक नहीं किया जाना चाहिये ।
 3. जहिं वसइ महारिसी सच्चभूइ ।
गउ तहिं भामण्डलु जणणु लेवि । (प. च. 22.7)
— जहाँ सत्यभूति महामुनि रहते थे, वहाँ भामण्डल पिता को लेकर गये ।
 4. एउ दीसइ गिरिवर-सिहसु जेत्यु ।
उवसग्गु भयंकरु होइ तेत्थु । (प. च. 32.2)
— जहाँ यह श्रेष्ठ पर्वत का शिखर देखा जाता है, वहाँ भयंकर उपसर्ग है ।
 5. जउ जउ पवणपुत्त परिसक्कइ,
तउ तउ वलु ण थक्कइ । (प. च. 51.13)
— जहाँ-जहाँ पवनसुत जाता था, वहाँ-वहाँ सेना नहीं ठहरती थी ।
 6. एत्तहे-तेत्तहे वारि घरि लच्छि विसंठुल धाइ । (हि. प्रा. व्या. 4.436)
— अस्थिर लक्ष्मी घर-घर पर, द्वार-द्वार पर यहाँ-वहाँ दौड़ती है ।
 7. केत्तहे रावणु ? (प. च. 69.20)
— रावण कहाँ है ?
 8. कहिं दीसइ तहिं सुहमग्गु सारु । (ज. च. 1.5.11)
— सारगर्भित सुख का मार्ग वहाँ कहाँ देखा जाता है ?
 9. कहिं गच्छहि अच्चमि जाम हउं । (प. च. 64.5)
— जब तक मैं हूँ, तुम कहाँ जाओगे ।
 10. अण्णेत्तहे असोउ उप्पणउ । (प. च. 3.3)
— दूसरे स्थान पर अशोक (वृक्ष) उत्पन्न हुआ ।
2. 11. वुह-मण्डलु वि चऊहिं तहिंतिउ । (प. च. 2.3)
— वहाँ से चार योजन बुध-मण्डल है ।
 12. तत्थहो वि च्वेप्पिणु सुद्धमइ, हूओ सि एत्थ लंकाहिवइ । (प. च. 6.15)
— हे शुद्धमति ! वहाँ से मरकर ही तुम यहाँ लंकाधिपति हुए हो ।

13. धूम कहन्तिह उट्टिअउ । (हि. प्रा. व्या. 4.416)
— धूँ से कहाँ से उठा ।
14. धूम कउ उट्टिअउ । (हि. प्रा. व्या. 4.416)
— धूम कहाँ से उठा ।
15. एत्तहे जिणवर-सासणु सुन्दर, एत्तहे जाणइ-वयणु मणोहर ।
एत्तहे पाउ अणोवमो वज्जइ, एत्तहे विसएहिं मणु परिरुज्जइ । (प. च. 55.1)
— एक ओर/इधर अरहंत का सुन्दर शिक्षण है, दूसरी ओर/उधर जानकी का मनोहर मुख।
एक ओर/इधर अतुलनीय पाप बांधा जा रहा है, दूसरी ओर/उधर मन विषयों से रोका जायेगा ।
16. परिपुच्छिय तुम्हे पयट्टु केत्थु, किं मायापुरिस पढुक्क एत्थु । (प. च. 69.9)
— पूछा गया - आप कहाँ से आये, क्या यहाँ (कोई) माया-पुरुष आ पहुँचा है ?
17. एउ कहिं लद्धु जलु । (प. च. 68.4)
— यह जल कहाँ से प्राप्त किया गया है ?
3. 18. कहिं चि आहया हया, महीयलं गया गया । (प. च. 61.4)
— कहीं पर/किसी जगह आहत अश्व और हाथी जमीन पर पड़े हुए हैं ।
19. कत्थइ सन्दण सयखण्ड किय,
कत्थइ तुरङ्ग णिज्जीव थिय । (प. च. 43.1)
— कहीं रथों के सैकड़ों टुकड़े किये गये थे, कहीं निर्जीव घोड़े थे ।
20. कत्थइ कप्पदुम दिट्ठु तेण । (प. च. 31.6)
— कहीं उसके द्वारा कल्पवृक्ष देखे गये ।
21. कत्थ वि लोट्टाविय हत्थि-हड । (प. च. 43.1)
— कहीं हाथियों के समूह लोट-पोट किये गये ।
4. 22. तहिं अवसरे मम्भीसन्तु मउ, सण्णहेवि दयासहो पासु गउ । (प. च. 71.14)
— उस समय अभय देता हुआ मय शस्त्रास्त्र से सुसज्जित होकर रावण के पास गया।
23. सियहे पासु पयट्टु दसाणणु । (प. च. 73.8)
— रावण सीता के निकट गया ।
24. ओसरु पासहो । (प. च. 74.5)
— (तू) पास से हट जा ।

25. मुच्छ गिण्पिणु रहुवइ घरिणिहे ।
 करि ओसरिउ व पासहो करिणिहे । (प. च. 73:12)
 - राम की पत्नी की मूर्च्छा को देखकर (रावण उसी प्रकार हट गया) जैसे - मानो हथिनी के पास से हाथी हट गया हो ।
26. पच्छए-पुरे वि रावणो । (प. च. 75:17)
 - आगे-पीछे भी रावण (ही दिखाई देता था) ।
27. पुणु पच्छए हिलिहिलन्त स-मय ।
 खर-खुरेहिं खणन्त खोणि तुरय । (प. च. 12:8)
 - फिर तेज सुरों से पृथिवी खोदते हुए मद-सहित हिनहिनाते हुए घोड़े (पैदल सेना के) पीछे थे ।
28. सायर उप्परि तणु धरंइ, तलि घल्लइ रयणाइ । (हि. प्रा. व्या. 4:434)
 - सागर ऊपर/ऊपर की ओर घास को धारण करता है (किन्तु) रत्नों को पैदे में रखता है ।
29. पेट्टहु हेड्डि हुआसणु जालिउ । (ज. च. 3:12:13)
 - पेट के नीचे अग्नि जलाई गई ।
30. अगगले-पच्छले अ-परिप्पमाण ।
 जउ-जउ जे दिट्ठि तउ तउ जि वाण । (प. च. 64:10)
 - (हनुमान के) आगे-पीछे असीमित बाण (थे) । जहाँ-जहाँ दृष्टि (जाती थी) वहाँ-वहाँ ही बाण (थे) ।
31. थिउ अगए-पच्छए भड-समूह । (प. च. 16:15)
 - योद्धा-समूह आगे-पीछे बैठ गया ।
32. तउ दूरें दिट्ठि जे जणइ सुहु । (प. च. 9:2)
 - तुम्हारी दृष्टि दूर से ही सुख उत्पन्न करती है ।
33. दूरहो जि गिरुद्धउ वइरि-वलु । णं जम्बूदीवे उवहि-जलु । (प. च. 15:3)
 - शत्रुबल दूरवर्ती स्थान पर ही रोक लिया गया, मानो जंबूद्वीप के द्वारा समुद्र का जल ।
34. वलहो पासे थिउ कुसलु भणेपिणु । (प. च. 26:1)
 - कुशल पूछकर राम के पास बैठ गया ।
35. रहेइ विज्जुलङ्गु अणुपच्छए, पडीवा-इन्दु व सूरहो पच्छए । (प. च. 26:1)
 - (उसके) पीछे विद्युदंग चोर शोभित है, मानो सूर्य के पीछे प्रतिपदा का चन्द्रमा हो ।
36. जे रिउ अणुपच्छए लगग तहो, गय पासु पडीवा गिय-णिवहो । (प. च. 5:6)
 - जो दुश्मन उसके पीछे लगे थे, (वे) निज राजा के पास चापस गये ।

37. थिय चउपासे परम-जिण्न्दहो । (प. च. 3.10)
 — (देवता) परम जिनेन्द्र के चारों ओर स्थित थे ।
38. चउपासिउ वइरिहैं तणिय सङ्क । (प. च. 7.11)
 — चारों ओर से दुश्मनों को रोका है ।
39. पोसिय सासणहर चउपासेहिं । (प. च. 20.1)
 — चारों ओर शासनघर भेजे गये ।
40. को वि दूरहो ज्जे पाणेहिं विमुक्क । (प. च. 65.3)
 — कोई दूर से ही (हनुमान को देखकर) प्राणों से छुटकारा पा जाता ।

पाठ - 2

समयवाची अव्यय

- | | |
|-----------------------|------------------|
| 1. (i) तइयहुं | = तब |
| (ii) जइयहुं | = जब |
| (iii) तावेहिं | = तब/उस समय |
| (iv) जावेहिं | = जब/जिस समय |
| (v) ज | = जब |
| (vi) त | = तब |
| (vii) जाम | = जब |
| (viii) ताम/ताम्ब | = तब |
| (ix) जामहिं | = जब |
| (x) तामहिं | = तब |
| (xi) एवहिं | = अब/अभी/इसी समय |
| (xii) कइयहुं | = कब |
| | |
| 2. (i) जाम/जाउं/जाम्ब | = जब तक |
| (ii) ताम/ताउं | = तब तक |
| | |
| 3. (i) अज्ज/अज्जु | = आज |
| (ii) कल्ले/कल्लए | = कल |
| (iii) परए | = कल |
| (iv) अज्ज वि | = आज तक |
| (v) अणुदिणु | = प्रतिदिन |
| (vi) दिवे-दिवे | = प्रतिदिन |
| (vii) रत्तिन्दिउ | = रात-दिन |
| (viii) रत्तिदिणु | = रात-दिन |
| (ix) अज्जु-कल्ले | = आज-कल में |
| (x) कन्दिवसु/कं दिवसु | = किसी दिन |
| | |
| 4. (i) झत्ति | = शीघ्र |
| (ii) छुडु | = शीघ्र |
| (iii) अइरेण | = शीघ्र |
| (iv) लहु | = शीघ्र |

(v) णिविसेण	= पलभर में
(vi) तक्खणेण	= तत्काल
(vii) तक्खणे	= तत्काल
(viii) णिविसे	= पल भर में
(ix) खणे-खणे	= हर क्षण
(x) खणन्तरेण	= कुछ देर के बाद ही
(xi) खण-खणे	= क्षण-क्षण में
(xii) तुरन्त	= तुरन्त
(xiii) तुरन्तएण	= जल्दी से
(xiv) तुरन्ते	= जल्दी से
(xv) तुरन्तउ	= तुरन्त
(xvi) अवारे	= तुरन्त

5. (i) ण कयाइ = कभी नहीं

(ii) चिरु = दीर्घकाल तक

(iii) पच्छए/पच्छइ = बाद में

(iv) पच्छा = बाद में

(v) पडीवउ = फिर/वापस

(vi) अज्जहो = आज से

(vii) पडीवा = और फिर वापस

संकलित वाक्य-प्रयोग

1. 1. दिण्णु देव पइँ मग्गमि जइयहँ ।

णियय-सच्चु पालिज्जइ तइयहँ ॥

(प. च. 21.4)

— हे देव (राजन) ! आपके द्वारा दे दिया गया है, जब मैं मांगू, तब निज सत्य (वचन) पाला जाए ।

2. तहिँ णिवसइ मयरद्धउ जइयहँ,

अवरु चोज्जु अवयरियउ तइयहँ ॥

(णा. च. 3.15.10)

— जब नागकुमार वहाँ निवास कर रहा था तब एक (अन्य) आश्चर्य घटित हुआ।

3. सरि गम्भीर णियच्छिय जावेहिँ,

सयलु वि सेण्णु णियत्तउ तावेहिँ ।

(प. च. 23.4)

— जब/जिस समय गंभीर नदी देखी गई, तब ही/उस समय ही समूची सेना लौटा दी गई।

4. एह वोल्ल णिम्माइय जावेहिँ,

दुक्क भाणु अत्यवणहो तावेहिँ ।

(प. च. 23.9)

— जब/जिस समय ये वचन उत्पन्न किये गये तब ही/उस समय ही सूर्य अस्ताचल पर पहुँच गया ।

5. धणहर सर सारहि छत्र-दण्ड। ज वाणहिं किउ सय खण्डु-खण्डु।
 त अमरिस-कुद्धे दुद्धरेण । संभारिय विज्ज विज्जाहरेण (प. च. 37.15)
 — जब बाणों के द्वारा धनुष, सर, सारथि और छत्र-दण्ड सौ-सौ टुकड़े कर दिये गये, तब क्रोध से क्रुद्ध दुर्जय विद्याधर के द्वारा विद्या का स्मरण किया गया ।
6. ज दुक्खु-दुक्खु सथविउ राउ,
 पडिवोल्लिय णिय घरिणिए सहाउ । (प. च. 37.6)
 — जब बड़ी कठिनाई से राजा आश्वस्त किया गया (तब) निज पत्नी द्वारा पूछा गया ।
7. एवहिं सयलु वि रज्जु करेवउ, पच्छले पुणु तव-चरणु चरेवउ। (प. च. 24.5)
 — इस समय/अभी (तुम्हारे द्वारा) समस्त राज्य ही भोगा जाना चाहिये, पीछे फिर तप का आचरण किया जाना चाहिये।
8. अण्णवि थोवन्तर जाइ जाम, गम्भीर महाणइ विट्ट ताम । (प. च. 23.13)
 — और भी, जब (वे) थोड़ी दूर तक जाते हैं, तब (उनके द्वारा) गंभीर महानदी देखी गई।
9. सीयए उतु पुतु मह एवहिं, छुडु वद्धउ छुडु धरउ सुखेवेहिं । (प. च. 35.2)
 — सीता के द्वारा कहा गया, अभी (तुम) मेरे पुत्र (हो) । शीघ्र बढ़ो, शीघ्र इस समय सुख धारण करो ।
10. ज णिसुणिउ णाउ भयङ्कर, दासरहि धाइउ । (प. च. 38.9)
 — जब भयंकर नाद सुना गया, (तब) राम दौड़े ।
11. जामहिं विसमी कज्जगई जीवहं मज्जे एइ ।
 तामहिं अच्छउ इयर जणु सु-अणुवि अन्तर देइ । (हे. प्रा. व्या. 4.406)
 — जब जीवों के सामने विषम कार्य-स्थिति उत्पन्न होती है तब साधारण आदमी तो दूर रहे, सज्जन भी उनकी अवहेलना करते हैं ।
12. कइयहं माणेसहं राय-सिय । (प. च. 9.6)
 — मैं राज-लक्ष्मी का अनुभव कब करूंगी ?
- 2.13. जाम ण पत्त वत्त भत्तारहो,
 ताम णिवित्ति मज्जु आहारहो । (प. च. 50.10)
 — जब तक पति के समाचार उपलब्ध नहीं हुए तब तक मेरी आहार से निवृत्ति है ।
14. ताम ण जामि अज्जु जाम ण रोसाविउ मइ दसाणणे । (प. च. 51.1)
 जब तक मेरे द्वारा रावण क्रोधित नहीं किया गया तब तक मैं नहीं जाऊँगा ।
15. जाव ण सुणमि वत्त भत्तारहो ताव णिवित्ति मज्जु आहारहो । (प. च. 38.19)
 — जब तक पति की कथा नहीं सुनती हूँ । तब तक मेरी आहार से निवृत्ति रहेगी ।
16. अम्हेहिं पुणु जुज्जेवउ समरे ताव तिट्ट णयरे । (प. च. 30.3)
 — हमारे द्वारा फिर युद्ध में लड़ा जायेगा, तब तक नगर में ठहरो ।

17. तिलहं तिलत्तणु ताउं पर जाउं न नेह गलन्ति । (हि. प्रा. व्या. 4.406)
 — तिलों का तिलपना तभी तक है, जब तक तेल नहीं निकलता है ।
18. को वि भणइ मुहे पण्णु ण लायमि ।
 जाम्व ण रुण्ड-णिवहु णच्चावमि । (प. च. 59.4)
 — कोई कहता है 'मैं मुह में पान नहीं लूंगा जब तक धड़-समूह को नहीं नचाता हूँ ।
19. ताम्व --- णिग्गउ कुम्भयण्णु । (प. च. 59.5)
 — तब --- कुम्भकर्ण निकला ।
- 3.20. अवसें कन्दिवसु वि सो होसइ,
 साहसगइहे जुञ्जु जो देसइ । (प. च. 47.3)
 — अवश्य ही किसी दिन वह (मनुष्य) उत्पन्न होगा, जो सहस्रगति के साथ युद्ध करेगा ।
21. कं दिवसु वि होसइ आरिसाहँ,
 कञ्चुइ-अवत्थ अम्हारिसाहँ । (प. च. 22.3)
 — किसी दिन इस प्रकार हम जैसे ज्ञानी लोगों की भी कंचुकी के समान अवस्था होगी ।
22. अज्जहो तुहुं महु राणउ । (प. च. 20.11)
 — आज से तुम मेरे राजा हो ।
23. समउ कुमारें अज्ज वि रावण सन्धि करेँ । (प. च. 58.1)
 — हे रावण ! तुम आज भी कुमार (लक्ष्मण) के साथ सन्धि करो ।
24. जइ भरहहो होइ सुभिच्चु अज्जु,
 तो अज्जु वि लइ अप्पणउ रज्जु । (प. च. 30.9)
 — यदि तुम आज भरत के अच्छे दास होते हो तो आज ही अपना राज्य ले लो ।
25. सुणु कन्ते कल्ले काइँ करमि । (प. च. 62.10)
 — हे सुन्दरी ! सुनो, कल मैं क्या करूंगा ?
26. तहिं हउं पलय-दवगिग कल्लए वणे लग्गेसमि । (प. च. 62.11)
 — मैं कल उस वन में प्रलय की आग लगा दूंगा ।
27. सा परए धिवेसइ कहो वि माल । (प. च. 7.1)
 — वह कल किसको माला पहनायेगी ।
28. अज्ज वि कुम्भयण्णु णउ आवइ । (प. च. 67.8)
 — आज तक कुम्भकर्ण नहीं आया ।
29. जाणइ दिट्ठ देव जीवन्ती । अणुदिणु तुम्हहँ णामु लयन्ती । (प. च. 55.9)
 — हे देव ! जानकी जीती हुई और प्रतिदिन तुम्हारा नाम लेती हुई देखी गई है ।

30. दिवे-दिवे छिन्देवउ आउ-तरु । (प. च. 50.6)
 — आयुरूपी वृक्ष प्रतिदिन छेदा जायगा ।
31. रत्तिन्दिउ लङ्काउरि-पएसु । (प. च. 10.7)
 जगडउ वइसवणहो तणउ देसु ।
 — रात-दिन लंकापुरी-देश और, वैश्रवण का देश झगड़ता है ।
32. चिन्तेव्वउ जीवे रत्ति-दिणु, भवे-भवे महु सामिउ परम जिणु । (प. च. 54.16)
 — जीव द्वारा रात-दिन यह विचारा जाना चाहिये कि भव-भव में परमजिन मेरे स्वामी हों ।
33. महु पुणु चङ्गउ अवसर वट्टइ, (प. च. 53.2)
 जो किर अज्जु-कल्ले अब्भिट्टइ ।
 — फिर मेरे लिए अच्छा अवसर है, जो निश्चय ही आज-कल में युद्ध करूंगा ।
4. 34. झत्ति पलित्तउ अणुहरमाणु हुआसहो । (प. च. 60.1)
 — आग के समान, (वही लक्ष्मण) शीघ्र भड़क उठा ।
35. सीयए वुत्तु 'पुत्तु महु एवहिं । छुडु वद्धउ छुडु धरउ सुखेवेहिं । (प. च. 35.2)
 — सीता के द्वारा कहा गया 'इस समय (तुम) मेरे पुत्र (हो) ।
 तुम शीघ्र बढ़ो, शीघ्र इस समय सुख धारण करो ।
36. सो अइरेण विणासइ । (प. च. 71.12)
 — वह शीघ्र नष्ट हो जाता है ।
37. लहु सण्णाह-भेरी अप्फालिय । (प. च. 40.14)
 — शीघ्र ही संग्राम-भेरी बजवा दी गई ।
38. अत्थाण-खोहु णिविसेण जाउ । (प. च. 37.8)
 — पल भर में सभा में क्षोभ उत्पन्न हुआ ।
39. तो एम पससेवि तक्खणेण, (प. च. 40.13)
 'हिय-जाणइ' अक्खिउ लक्खणेण ।
 — तब इस प्रकार प्रशंसा करके, लक्ष्मण द्वारा तत्काल (उसी समय) कहा गया (कि) जानकी हरण करली गई है ।
40. तक्खणे ज्जे पण्णत्ति-वलेण विणिम्मियं वलं । (प. च. 46.3)
 — (उन्होंने) विद्या के बल से तत्काल (उसी समय) सेना बनाली ।
41. णिविसे तं जम-णयरु पराइउ । (प. च. 11.9)
 — पल भर में वह यम के नगर पहुँच गया ।

42. खणे खणे वोल्हहि णाई अयाणउ । (प. च. 44.12)
— (तुम) हर-क्षण अज्ञानी की तरह बोलते हो ।
43. पट्टविय विसल्ल खणन्तरेण । (प. च. 69.15)
— विशल्या कुछ देर बाद भेज दी गई ।
44. जे मुआ वि जीवन्ति खण-खणे,
दुज्जय हरि-वल होन्ति रणङ्गणे । (प. च. 70.1)
— मरे हुए भी जो क्षण-क्षण में जीते हैं (तो) युद्ध में लक्ष्मण की सेना दुर्जय होगी।
45. जो णरवर-लक्खेहि पणविज्जइ ।
सो पहु मुअउ अवारे णिज्जइ । (प. च. 5.2)
— जो श्रेष्ठ नर लाखों द्वारा प्रणाम किया जाता है, वह प्रभु मरा हुआ तुरन्त ले जाया जाता है ।
46. पुणु णरवइ मदिरे गय तुरन्त । (प. च. 69.8)
— फिर राजा तुरन्त मन्दिर गया ।
47. णिउ रामहो पासु तुरन्तएण । (प. च. 68.1)
— (वह उसे) जल्दी से राम के पास ले गया ।
48. सो रिसि-सङ्गु तुरन्ते वन्दिउ । (प. च. 6.16)
— वह मुनिसंघ जल्दी से वन्दना किया गया ।
49. जं जाणहि तं करहि तुरन्तउ । (प. च. 6.16)
— जो समझते हो वह तुरन्त करलो ।
- 5.50. तं विहिसणा पई पजम्मियं, दहमुहस्स ण कयाइ जं पियं । (प. च. 57.5)
— हे विभीषण ! तुम्हारे द्वारा यह कहा गया है जो रावण के लिए कभी प्रिय नहीं है।
51. चिरु जेण ण इच्छिउ दप्पणउ,
रहे तेण णिहालिउ अप्पणउ । (प. च. 61.3)
— जिसके द्वारा दीर्घकाल तक (बहुत समय तक) दर्पण नहीं चाहा गया, उसके द्वारा रथ में स्वयं देख लिया गया ।
52. पढमु सरीरु ताहे रोमञ्चिउ । पच्छए णवर विसाए सञ्चिउ । (प. च. 50.3)
— पहले उसका शरीर पुलकित हुआ किन्तु बाद में (वह) विषाद के द्वारा भरी गई ।
53. पहिलउ जुञ्जेवउ दिट्ठि-जुञ्जु ।
जल-जुञ्जु पडीवउ मल्ल-जुञ्जु । (प. च. 4.9)
— पहले दृष्टि-युद्ध लड़ा जाना चाहिये, फिर जल युद्ध और मल्ल-युद्ध ।
54. जं जिणेवि ण सक्किउ सलिल-जुञ्जु पारदु पडीवउ मल्ल-जुञ्जु । (प. च. 4.11)
— जब जल-युद्ध जीतने के लिए समर्थ नहीं हुआ (तो) फिर मल्ल-युद्ध प्रारम्भ किया गया।

**दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी द्वारा संचालित
जैनविद्या संस्थान एवं अपभ्रंश साहित्य अकादमी
के प्रकाशन**

क्र. सं.		मूल्य
1-5.	राजस्थान के जैन शास्त्र भण्डारों की ग्रन्थ सूची — प्रथम एवं द्वितीय तृतीय, चतुर्थ एवं पंचम भाग — डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल एवं अनूपचन्द न्यायतीर्थ	अप्राप्य 350/-
6.	जैन ग्रन्थ भण्डार्स इन राजस्थान (अंग्रेजी भाषा में शोध-प्रबन्ध) — डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल	50/-
7.	महाकवि दौलतराम कासलीवाल : व्यक्तित्व एवं कृतित्व — डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल	20/-
8.	राजस्थान के जैन सन्त : व्यक्तित्व एवं कृतित्व — डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल	20/-
9.	जैन शोध और समीक्षा — डॉ. प्रेमसागर जैन	20/-
10.	जिणदत्तचरित — सम्पादक — डॉ. माताप्रसाद गुप्त एवं डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल	12/-
11.	प्रद्युम्नचरित — सम्पादक — पं. चैनसुखदास न्यायतीर्थ एवं डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल	12/-
12.	सर्वार्थसिद्धिसार — सम्पादक — पं. चैनसुखदास न्यायतीर्थ	अप्राप्य
13.	वचनदूतम् (पूर्वार्द्ध एवं उत्तरार्द्ध) — पं. मूलचन्द शास्त्री	प्रत्येक 10/-
14.	पं. चैनसुखदास न्यायतीर्थ स्मृति ग्रन्थ	50/-
15.	बाहुबली (खण्डकाव्य) — पं. अनूपचन्द न्यायतीर्थ	10/-
16.	योगानुशीलन — श्री कैलाशचन्द बाढ़दार	75/-
17.	कातन्त्ररूपमाला — भावसेन त्रैविद्यदेव	12/-
18.	बोधकथा मंजरी — श्री नेमीचन्द पटोरिया	अप्राप्य
19.	पुराणसूक्तिकोष	15/-
20.	वर्धमानचम्पू — पं. मूलचन्द शास्त्री	25/-
21.	चेतना का रूपान्तरण — ब्र. कुमारी कौशल	15/-
22.	आचार्य कुन्दकुन्द : द्रव्य विचार — डॉ. कमलचन्द सोगाणी	15/-
23.	चूनड़िया — मुनि श्री विनयचन्द्र, अनु. — पं. भैवरलाल पोल्याका	1/-
24.	आणदा — कवि महानन्दि, अनु. — डॉ. देवेन्द्रकुमार शास्त्री	5/-
25.	णेमीसुर की जयमाल और पाण्डे की जयमाल — मुनि कनककीर्ति एवं कवि नण्डू, अनु. — पं. भैवरलाल पोल्याका	2/-
26.	समाधि — मुनि चरित्रसेन, अनु. — पं. भैवरलाल पोल्याका	4/-
27.	बुद्धिसायण ओणमचरितु — कवि नेमिप्रसाद, अनु. — पं. भंवरलाल पोल्याका	5/-

28. अपभ्रंश रचना सौरभ — डॉ. कमलचन्द सोगाणी	सजिल्द 60/-
	अजिल्द 35/-
29. पाहुडदोहा चयनिका — डॉ. कमलचन्द सोगाणी	13/-
30. सप्ततच्च — सम्पादक — पं. भैवरलाल पोल्याका	7/-
31. अपभ्रंश काव्य सौरभ — डॉ. कमलचन्द सोगाणी	सजिल्द 125/-
	अजिल्द 75/-

सर्वोदय-पुस्तकमाला

1. मृत्यु जीवन का अन्त नहीं — डॉ. श्यामराव व्यास	अप्राप्य
2. आचार्य कुन्दकुन्द — पं. भैवरलाल पोल्याका	2/-
3. अतीत के पृष्ठों से — डॉ. राजाराम जैन	3/-
4. भगवान् महावीर और उनके सिद्धान्त — श्री रूपकिशोर गुप्ता	6/-
5. समाधिमरणस्वरूप — सम्पादक — पं. भैवरलाल पोल्याका	7/-

शोध-पत्रिका

जैनविद्या	पुस्तकालय हेतु	सामान्यतः
1. जैनविद्या-2, पुष्पदत्त विशेषांक, भाग — प्रथम	50/-	30/-
2. जैनविद्या-3, पुष्पदन्त विशेषांक, भाग — द्वितीय	50/-	30/-
3. जैनविद्या-4, धनपाल विशेषांक	50/-	30/-
4. जैनविद्या-5-6, वीर विशेषांक	50/-	30/-
5. जैनविद्या-7, मुनि नयनन्दी विशेषांक	50/-	30/-
6. जैनविद्या-8, मुनि कनकामर विशेषांक	50/-	30/-
7. जैनविद्या-9, योगीन्दु विशेषांक	50/-	30/-
8. जैनविद्या-10-11, आचार्य कुन्दकुन्द विशेषांक	50/-	30/-
9. जैनविद्या-12, पूज्यपाद विशेषांक	15/-	15/-

अपभ्रंश-भारती

	वार्षिक मूल्य
1. अपभ्रंश भारती-1, स्वयंभू विशेषांक	75/- 40/-
2. अपभ्रंश भारती-2	

नोट — शोध-पत्रिकाओं के एक वर्ष से पूर्व प्रकाशित अंक परिवर्धित मूल्य पर उपलब्ध होंगे।
भुगतान के लिए ड्राफ्ट "जैनविद्या संस्थान समिति" के नाम से भेजे ।

प्राप्ति-स्थान

जैनविद्या संस्थान
दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी,
श्रीमहावीरजी-322 220 (राजस्थान)

अपभ्रंश साहित्य अकादमी,
जैनविद्या संस्थान,
भट्टारकजी की नसियां,
सवाई रामसिंह रोड,
जयपुर-302004

